पुरुषार्थ सिद्धयुपाय प्रवचन

भाग - 1

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय प्रवचन

भाग
१ व ३
1-2-3

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर-मेरठ

आत्म-कीर्तन

शांतमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूं स्वतंत्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अंतर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान।। १ ।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान,अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान
किंतु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।। २ ।।

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।। ३ ।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।। ४ ।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।। ५ ।।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

पुरूषार्थसिद्ध्युपाय प्रवचन

(प्रथम, द्वितीय, तृतीय भाग)

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानद" महाराज

प्रकाशक :—

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उत्तर प्रदेश)

[द्वितीय संस्करण
१०००]

सन् १६८९

[लागत मात्र मूल्य
२० रुपये

अपरिचित न जान सके वह बात काल्पनिक समझिये। जैसे किसी एक मकान को देखकर जर्मनी अथवा रूस आदि का कोई भी पुरुष यह तो जानता रहेगा ना कि यह मकान है इतना बड़ा है, मजबूत है, ऐसे रंग का है कोई भी जान लेगा मगर यह मकान अमुक साहब का है यह बात तो पड़ौसी या परिचित ही जानेगा। तो यह मकान इसका है, यह बात उस मकान में न मिलेगी। उसमें न वह स्वरूप है। मकान में मकान का स्वरूप है, यह तो एक दृष्टान्त की बात है। अभी विशुद्ध ज्ञान की बात लीजिये तो ज्ञान के शुद्ध प्रवर्तन में यह भी कल्पना नहीं उठाई जा सकती है कि यह इतने हाथ लम्बा है, इतने मील लम्बा है। ज्ञान ने तो उस पदार्थ को जैसा है वैसा जान लिया है और जिस पर्याय में परिणत है उस पर्याय परिणति को जान लिया, पर यह इतना बड़ा है, यह उससे छोटा है, यह इतने माप का है ये सब श्रुतज्ञान की बातें हैं।

मतिज्ञान की निर्विकल्पताका उदाहरण—अथवा कुछ अपन समझने के लिए ऐसा जान लें कि जैसे मतिज्ञान निर्विशेष रूप से जानना है कि इसी प्रकार केवल ज्ञान भी निर्विशेष रूप से जानता है। जैसे केवल ज्ञान को निर्विकल्प बताया है इसी प्रकार मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को भी निर्विकल्प बताया है। केवल श्रुतज्ञान ही सविकल्प ज्ञान है और जितनी कल्पनायें उठी हैं वे सब श्रुतज्ञान में उठती हैं। यह अमुकका रिश्तेदार है यह बात सत्य नहीं है। यह आपकी कल्पना में बैठी हुई बात है। किसी भी पदार्थ का माप होना कि यह दो हाथ लम्बी चीज है, यह स्वरूप इस पदार्थ में नहीं पड़ा हुआ है। पदार्थ में जो स्वरूप पड़ा हुआ है वह सबको एक समान ज्ञात होगा। भारतीय लोग इसे दो हाथ का कहेंगे तो अन्य जगह के लोग इसे तीन फिट का कहेंगे तो कहीं के लोग सेन्टीमीटर वगैरह में कहेंगे। यदि वस्तु में वह स्वरूप वैसा होता तो जितने लोग जानते हैं उन सबको एक समान प्रतिभात होता। पहिले तो यह जान लिया है कि रिश्तेदार आदिक ये सब काल्पनिक हैं। जैसे हम लोग जानते हैं कि मकान मेरा है यह मेरा अमुक है यह बात यदि सर्वज्ञ के ज्ञान में भी ज्ञात हो जाय तो वह परमार्थ हो जायेगी। रजिस्ट्री से भी बढ़कर रजिस्ट्री हो जायगी।

आगमका प्रणेतृत्व—अब रही यह बात कि आग में जो यह वर्णन है कि जम्बूद्वीप अधोलोक मध्यलोक आदिक का इतना-इतना विस्तार है यह विस्तार का बताना किसकी देन है? मूल निमित्त से प्रभु की। प्रभु की जो दिव्य ध्वनि खिरती है उस दिव्य ध्वनि को एकमत से तो निरक्षर माना गया है। दिव्य ध्वनि में कोई अक्षर नहीं, उस निरक्षरी दिव्य ध्वनि को सुनकर प्राणी अपनी बुद्धि के अनुसार उसको समझते हैं अथवा ऐसा अतिशय समझिये कि जो जितने क्षयोपशम वाला है वह अपने क्षयोपशम के अनुसार उसका उतना मतलब जान जाता है। जैसे केवल ज्ञान एक महान् ज्ञान है तो उतना महान् न सही, उतना अनन्त और पूर्ण न सही, लेकिन अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान की भी महिमा कम नहीं है। जैसे केवल ज्ञानी पुरुष भूत भविष्य की बात निर्विकल्प रूप से जान लेते हैं इस ही प्रकार कुछ सीमा में अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानी भी जान लेते हैं और अवधिज्ञानका विषय तो सारा लोक बताया गया है। सर्वावधिज्ञान का विषय समस्त लोक है और ऐसे ऐसे लोक ऐसे ऐसे मूर्तपदार्थ यदि इससे भी असंख्यातगुने होते तो वह भी सर्वावधिज्ञान का विषय बन जाता है। इन ज्ञानों की महिमा भी कम नहीं है और फिर भी जिनके मत से दिव्य ध्वनि अक्षरमय है तो भी दिव्य ध्वनि का खिरना केवल ज्ञान की पर्याय से भिन्न चीज है। ऐसा एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि विशिष्ट केवल ज्ञान के देह से ऐसी विशिष्ट दिव्यध्वनि निकलती है जो कि द्वादशांग के विषय का प्रतिपादन करने वाली है। ऐसा होते हुए भी केवल ज्ञान के परिणमन से यह परिणमन भिन्न है। केवल ज्ञान निर्विकल्प है और यह ध्वनि सविकल्प के विषय का भी प्रतिपादन करने वाली है।

निर्विकल्पता में नवजात शिशु के ज्ञान कोएक झांकी—केवल ज्ञान की निर्विकल्पताका अंदाज करने के लिये यों समझिये कि जैसे तुरन्त का जाया हुआ पुत्र कमरे में सब कुछ निरखकर भी कुछ भी विकल्प नहीं कर

पाता कि यह पीला है, यह बड़ा है जैसे वह विकल्प नहीं करता, जानता तो है ही। यह एक मात्र दृष्टान्त दिया है। पूर्ण रूप से खोज करना कि क्या उस बालक का ज्ञान निर्विकल्प हो गया ? केवल ज्ञान समस्त पदार्थों के गुण और पर्यायों को जानता तो है पर उसमें किसी प्रकार का विकल्प नहीं करता। अतएव सब कुछ जानकर भी उनके ज्ञान द्वारा न तो यह व्यवस्था बनाई जा सकती है कि यह इतना बड़ा है, इतना चौड़ा है और न यह व्यवस्था बनाई जा सकती कि यह इसके बाद है, यह इसके बाद है।

क्षेत्रकृत कालकृत विकल्प का भी विशुद्ध ज्ञान में अभाव—यद्यपि जो चीज जिसके बाद है उस ही रूप से अवस्थित जाना गया है लेकिन उस निर्विकल्प ज्ञान में यह विकल्प न होगा कि यह इसके बाद हैं। जैसे नवजात शिशु को वे सब पदार्थ वैसे ही ज्ञात हो रहे हैं जो यहां हैं, जो जिसके बाद हैं, जो जिस जगह स्थित हैं किन्तु उसके ज्ञान में यह विकल्प नहीं होता कि यह पदार्थ इसके बाद है। यों ही केवल ज्ञान में भी क्षेत्रकृत यह विकल्प नहीं होगा कि यह चीज इसके बाद है और जैसे क्षेत्रकृत विकल्प नहीं होता, इसी तरह कालकृत विकल्प भी न होगा। जब केवल ज्ञान समस्त सत्‌को एक साथ ग्रहण करता है और साथ ही निर्विकल्प रूप से है तो उस केवल ज्ञान में यह विकल्प नहीं सम्भव है कि इसके बाद अब यह पर्याय होगी इसके बाद यह पर्याय होगी। यद्यपि जान गये वैसा ही, पर यह विकल्प श्रुतज्ञान का है।

परात्पर परमज्योतिका जयवाद—दिव्य ध्वनि सुनकर द्वादशांगके पाठी गणधर देव ने जो व्याख्यान किया है वह सब व्याख्या आगम रूप में है, हम आपको प्राप्त है और उस ध्वनि को समझने वाले वे गणधर देव एक अपनी ही महिमा के थे, उससे भी परात्पर केवल ज्ञान के स्वरूप की बात चल रही है कि वह उत्कृष्ट ज्योति कितनी निर्विकल्प है और निर्विकल्प है इसी कारण समस्त सत् को जानने वाली है, ऐसी उत्कृष्ट ज्योति जयवंत हो जिसमें रंचमात्र भी खेद नहीं है, परम आनन्द का धाम है। ऐसी परम ज्योति जयवंत होओ। यदि जयतु की जगह जयति कहा जाय तो इसका अर्थ है कि वह परमज्योति जयवंत होती है। ऐसी उस परम ज्योति का स्मरण करते हुए पुरुषार्थसिद्धयुपाय के रचयिता का जो कुछ वक्तव्य है उसे इसके आगे कहेंगे।

श्रेयःस्वरूप का जयवाद—इस आत्मा का श्रेयस्कर जो पद है उस पद का यहां जयवाद किया है। किसी तीर्थंकर को या अन्य महापुरुष का नाम लेकर गुणानुवाद नहीं किया। इससे ग्रन्थकारकी परीक्षा प्रधानता सिद्ध होती है। यद्यपि किसी तीर्थंकरका नाम लेकर भी नमस्कार करते तो कोई दोष न था, विपत्ति न थी, वह भी मंगलाचरण है और स्वरूप भक्ति है, फिर भी एक आध्यात्मिक मर्म के प्रणेता अमृतचन्द्रजी सूरि अध्यात्म-रुचि होने के कारण एक अन्तस्तत्वका जयवाद करते हैं और यह अन्तस्तत्व पर्याय दृष्टि से तो प्रभु से सम्बन्धित होकर नमस्कार में आया हैं, किन्तु द्रव्य दृष्टि से एक अन्तःपरमज्योति को नमस्कार किया है, जो उसका स्वरूप होता है वह व्यक्ति से बांधा हुआ नहीं होता। यद्यपि व्यक्तियों को छोड़कर सामान्य स्वरूप अन्य कुछ नहीं है, पमरज्योति अन्य कुछ नहीं है, लेकिन जब केवल उस ज्ञान स्वभाव का स्तवन हो तो वहां केवल ज्ञान स्वरूप ही आता है, व्यक्ति से बंधा हुआ ध्यान नहीं आता। ऐसी उस परमज्योति का जयवाद किया है।

ज्ञेय-ज्ञायक भाव में कर्तृत्व के अभाव की झांकी—इसमें जो दर्पण का दृष्टान्त दिया है कि जैसे दर्पण में पदार्थ की पंक्तियां, पदार्थ समूह एक साथ प्रतिबिम्बित होता है इस दृष्टान्त में भी अनेक मर्मों का संकेत होता है। जैसे दर्पण अपने स्थान को छोड़कर पदार्थ के पास जाकर अपने में प्रतिबिम्ब लेता है लेकिन दर्पण अपने ही स्वरूप में स्वच्छ रहकर अपने में अपना प्रतिबिम्ब लेता है और वह जिस पदार्थ को प्रतिबिम्ब बनाता, जिसका प्रतिबिम्ब आना है उसको आकार सदृश दर्पण अपना प्रतिबिम्ब बनाता है। वह पदार्थ पर जबरदस्ती नहीं करता कि हम गुणों में झलक ही जावें किन्तु दर्पण का स्वभाव है कि उसमें पदार्थ प्रतिबिम्ब हो जाते हैं, इसी प्रकार यह परमज्योति पदार्थ के पास जाकर उन्हें प्रतिबिम्ब नहीं देता है किन्तु यह ज्योति तो अपने आत्मा के आश्रय में ही रहती है। उसका ऐसा स्वभाव है कि जो सत् है वह सब इसमें प्रतिबिम्बत हो जाय।

दर्पण के दृष्टान्त में दार्ष्टान्त की दो खूबियों की झलक—यहां दर्पण का दृष्टान्त देने से उसमें दो तत्वों का मर्म आया। जैसे दर्पण पदार्थों पर जबरदस्ती नहीं करता कि तुम हमारे में झलक ही जावो, इसी तरह यह ज्ञानशक्ति यह परम ज्योति पदार्थ पर जबरदस्ती नहीं करता है कि तुम हममें झलक ही जावो। बल्कि यदि ज्ञान रूप में कल्पना रूप में जबरदस्ती करने लगे कि मुझ में यह पदार्थ झलक ही जाये तो न झलकेगा अर्थात् जब यह आत्मा जानजानकर पदार्थों को जानना चाहता है तो चूंकि यह राग भरी चेष्टा है अतएव वह सर्वज्ञ नहीं बन सकता। दूसरा मर्म यह आता है कि दर्पण केवल अपने आप में प्रतिबिम्ब रूप से परिणमता है। पदार्थ नहीं परिणमते। पदार्थ का कर्तृत्व नहीं है दर्पण में प्रतिबिम्ब कर देने का और दर्पण का कर्तृत्व नहीं है किसीं पदार्थ को अपना लेने का, पदार्थ, पदार्थ की जगह है, दर्पण, दर्पण की जगह है। ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है और ऐसा दर्पण का स्वभाव है कि उसमें प्रतिबिम्ब आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा पदार्थ का कुछ नहीं करता है, आत्मा आत्मा के स्थान में है, पर जैसे अन्य पदार्थ को निमित्त करके अर्थात् विषय बनाकर जो ग्रहण होता है उसके आकार ज्ञान हुआ है तो जानन बना है ऐसा विशुद्ध जानन जिस ज्योति में हुआ करता है वह ज्योति जयवंत हो।

ज्ञायक स्वरूप की मंगलता—जो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है, मंगल भूत है, पापों को गला दे, समस्त सुखों को ला दे, जो लोक में उत्तम है, जिसका शरण गहना ही वास्तविक शरण है ऐसा यह शुद्ध ज्ञायक स्वरूप ही ज्ञानी संत पुरुष के एक ही बार में, एक ही नजर में आ जाता है और जिसे इस सर्वोत्कृष्ट शरणाभूत ज्ञायक स्वरूप का परिचय हुआ है अर्थात् मात्र जानन परिणति में जो अनुभवन होता है वह अनुभवन जिसे जगा है, राग, द्वेष, मोह के विकल्प हटकर केवल ज्ञाता रहने में जिसे आनन्द का अनुभव हुआ है उस अनुभव का स्वाद लेने के बाद उस ज्ञानी को फिर उससे कम बात सुहाती नहीं है और यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषों को विषय सुखों में रति नहीं होती, ऐसी यह परम ज्योति जयवंत हो अर्थात् मुझ में भी विराजमान यह ज्ञायक स्वरूप पूर्ण विकसित हो। राग, द्वेष, मोह से रहित होकर केवल इस ज्योतिका ही विलास हो ऐसी परमज्योति को नमन करके अब आचार्यदेव अनेकान्त को नमस्कार करते हैं।

ज्योतिर्विज्ञान के उपाय को नमन—देखिये उस ज्योति को जानने का जो उपाय है अब उस उपाय को नमस्कार किया जा रहा है। आज्ञा प्रधान पद्धति में इसके मुकाबले में तीर्थंकर देव को नमस्कार किया जाय और फिर शास्त्र को नमस्कार किया जाय, यह पद्धति है और अध्यात्म दृष्टि की यहां यह पद्धति प्रदर्शितकी गई है कि परम ज्योति को नमस्कार करके फिर परमज्योति के परिचय के उपायभूत स्याद्वाद को नमस्कार किया है जिसके प्रसाद से परमज्योति पूर्ण विकसित हो जाय इस प्रकार पूर्ण मंगलाचरण किया है। अग इस दूसरे छन्द में उस परमज्योति पर अधिकार पाने के लिये उसके परिचय का कारणभूत जो स्याद्वाद है उसे नमस्कार किया जा रहा है।

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुर विधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

अनेकान्तको प्रणमन—अब उस अनेकान्तको नमस्कार करते हैं, जो परम आगमका बीज भूत है। यद्यपि अनेकान्तका प्रयोजन और फल की दृष्टि से अनेकान्त की भी दो श्रेणियां बन जाती हैं, एक तो वह प्रथम पद्धति जिसमें पदार्थ अनेकान्तात्मक दिखते हैं। पदार्थ अनेक धर्म वाला है, अनित्य है, नित्य है, एक है, अनेक है, यों नाना धर्मरूप पदार्थ ज्ञान में आये ऐसे पदार्थ को अनेकान्त कहते हैं। लेकिन यह समझियेगा कि हम पदार्थो को अनेकान्तात्मक जानते ही रहें, ऐसी बराबर हम चर्चा करते ही रहें तो हमको निराकुलता कहां मिलेगी ?

विकल्प ही किया, बहुत बहुत चर्चावों में ही तो रहे। पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है और और भी जितनी बातें पदार्थों के सम्बन्ध में जान ली जायें उन समस्त धर्मों की चर्चा करते रहने में आखिर निर्विकल्प अनुभव कहां जगेगा ? तब अनेकान्तका यह अर्थ लगायें कि ऐसी स्थिति मिल जाना कि 'एक: अपि अन्त: न विद्यते स अनेकान्त:' जहां एक भी धर्म उपयोग में नहीं रहे। पहिले अनेकान्त धर्म उपयोग में रहे वह है ज्ञानमंच पर एक अपना विस्तार बनाने की रीति। जब अनेक धर्मों का ज्ञान भली प्रकार हो गया, धर्म का परिचय भी बन गया अब तो वह स्थिति चाहिये कि केवल एक अद्वैत स्वरूप ही अनुभव में रहे, पदार्थगत धर्म अब अनुभव में नहीं आये, उपयोग में नहीं आये। तब आखिरी स्थिति ऐसी बनती है कि जहां एक भी धर्म अब नहीं है ऐसी स्थिति हो जाती।

निर्विकल्प स्थिति में पहुंचने का दार्शनिक यत्न—देखिये सभी दर्शनों ने यह कोशिश की है कि हम उस पदवी में पहुंच जायें जहां एक भी धर्म दृष्टि में न रहे, अर्थात् कोई एक खण्ड तत्व ज्ञान में न रहे, अद्वैत ही उपयुक्त रहे, लेकिन उस खण्ड तत्व को पहिचानने के लिए जो पद्धति चाहिये थी उस पद्धति के न मानने से उनका वह अखण्ड तत्व ब्रह्म। द्वैत वह केवल एक कहना मात्र रह गया और वह कहना मात्र यों रह गया कि उस सिद्धान्त में कोई पहिले बोले तो अद्वैत ब्रह्म, अन्त में बोले तो अद्वैत ब्रह्म। परिचय कैसे हो सकेगा किन्तु अनेकान्त में सर्वप्रथम स्याद्वाद शैली से अनेकान्तात्मक शैली का परिचय कराया और जब वह परिचय हो गया तब यह ज्ञानी अपनी ज्ञान कला से निर्विकल्प अनुभूतियों में पहुंचता है जिसे आप अखण्ड, अद्वैत, अपरिणामी, द्रव्य रूप, सामान्य निर्विशेष किन्हीं भी शब्दों में कहें वह वस्तुत: तो किन्हीं भी शब्दों द्वारा रहने में नहीं आता। यह है जैन शासन की देन। कितनी बड़ी देन है ? इस तरह कल्याणार्थी पुरुष को सही पद्धति से ज्ञान कराकर फिर उसे अन्त में निर्विकल्प अन्त:स्वरूप में विश्राम कराया है। पारखी ही परख सकते हैं। तो ऐसा जो परमागमका बीज है स्याद्वाद, स्याद्वादकी मुद्रा से जो चिन्हित है ऐसे अनेकान्त को मैं नमस्कार करता हूं।

स्याद्वाद की मुद्रा से जिनशासनवचन की पुष्टि—जिस परिचय में स्याद्वाद की मुद्रा न लगी हो, जैन शासन के वचन नहीं हैं, जैसे किसी व्यापारी का एक व्यापार चिन्ह होता है जिससे कि वस्तु की प्रतीति हो जाती हैं कि यह यहां का बना हुआ है और सही है, इसी प्रकार इन समस्त प्रत्येक वचनों मे स्याद्वाद की मुद्रा चिन्हित है जिससे यह पहिचान होती है कि ये सब सम्यक् वचन हैं। उस स्याद्वाद मुद्रा से मुद्रित परमागम का यह बीज है जिसने कि एक जन्म से अन्धे पुरुषों के द्वारा कहे हुए हाथी के विधान का प्रतिषेध कर दिया है। एक दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है कि चार अन्धे लोग एक हाथी को परखने के लिये चले। एक अन्धे आदमी ने कहा कि हाथी खम्भा जैसा होता है क्योंकि उसने पैरों को छुवा था, तो कोई कहता है कि हाथी सूप जैसा होता है, उसने कान छुवा था। कोई अन्धा कहता है कि हाथी ढोल जैसा होता है क्योंकि उसने पेट छूवा और कोई कहता है कि हाथी मूसल जैसा होता है क्योंकि उसने सूंड छुवा था। अब वे जब चर्चायें करने लगे तो आपस में लड़ने लगे। तभी एक सूझता पुरुष आया और बताया कि तुम सब लोग ठीक कह रहे हो। जो खम्भा जैसा बताता है वह हाथी के पैरों की दृष्टि से कह रहा है, जो सूप जैसा कहता है वह हाथी के कानों की दृष्टि से कहता है, जो मूसल जैसा कहता है वह हाथी की सूंड की दृष्टि से कहता है और जो ढोल जैसा कहता है वह हाथी के पेट की दृष्टि से कहता है, इसी तरह समझिये कि समस्त दृष्टियों के बिलास में मुग्ध हुए एकान्त परिचय का जो मंतव्य है उससे जो उनमें परस्पर विरोध होता है उस विरोध को दूर कर सकने वाला यह स्याद्वाद है।

विरोध मथन अनेकान्त—वस्तु के स्थान, वस्तु के स्वरूप, वस्तु के आधार सभी विषयों में जो विरोध दूर कर देता है वह है परमागमका बीज अनेकान्त स्वरूप। जैसे प्रमाण के स्वरूप में ही लोग विवाद करते हैं। कोई कहते हैं कि जिन-जिन पदार्थों के रहने से ज्ञान बनता है उन-उन पदार्थों का जुट जाना ही प्रमाण है। यह एकान्त किया जाने से असत्य हो गया और उपादान की दृष्टि छोड़ देने से असत्य हो गया। उपादान तो ज्ञान है, आत्मा का उपयोग है वह प्रमाण है। पर वह समस्त स्थानों का, कारकों का जो जुट जाना है यह इस प्रमाण की उत्पत्ति में कुछ परिस्थितियों में साधन कारणभूत है, अतएव उनके बिना सम्बन्ध न होने की बात न कहते। सम्बन्ध है उनसे। कोई कहते हैं कि इन्द्रिय का और पदार्थो का भिड़ाव होना वह प्रमाण है। एकान्त होने से यह असत्य है, पर इसका जरा भी सम्बन्ध न हो प्रमाण में, ऐसी बात तो नहीं है। मतिज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय और पदार्थों की अभिमुखता से हुआ करती है, पर किसी जगह में एक साधन बन जाय ऐसा, उससे कहीं सभी का स्वरूप न बन जायेगा। यहां भी उपादान भूत ज्ञान ही वास्तविक प्रमाण है। इस प्रकार जो जो भी विषय जिन-जिन लोगों ने अपनी दृष्टियों से लिया है उन सबके विरोध को दूर करने वाला यह अनेकान्त है।

स्याद्वाद की उपयोगिता—देखिये अनेकान्त स्याद्वादके बिना कोई शब्द नहीं बोल सकता। जहां कुछ शब्द बोला वहां अनेक धर्म आ ही जायेंगे। यदि कोई यह कहे कि यह बात सच है तो इसमें क्या यह बात न आ जायेगी कि यह बात झूठ नहीं है। सच है व झूठ नहीं है इन दोनों की परस्पर अपेक्षा है। कोई दूसरे को मना करे, अजी तुम बिल्कुल झूठ कहते हो कि झूठ नहीं है तो इसका अर्थ है कि सच नहीं है। कोई इसका विरोध करे कि तुम झूठ कहते हो जो यह कहे कि सच है तो इसका अर्थ है कि झूठ है, प्रमाणता कहां सिद्ध हुई ? कुछ भी बात कहो उसके साथ प्रतिपक्षी लगा हुआ होता है। प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक धर्म, प्रत्येक ज्ञान सब प्रतिपक्षी हैं। जैसे एक घड़ी को ही कहा कि यह घड़ी है तो इसके साथ यह भी तो साथ लगा हुआ है कि घड़ी के सिवाय घड़ी को छोड़कर अन्य कुछ चीज नहीं है। यदिइसमें से किसी एक को भी मना जाय तो घड़ी का अस्तित्व न रहेगा। घड़ी है इसे मना करने पर घड़ी क्या रही ? अन्य चीज नहीं है इसको मना करने पर घड़ी क्या रही ? फिर तो अन्य चीज हो गई। है भी कहा जाय तो उसमें भी अनेकान्त पड़ा हुआ है। तो प्रत्येक शब्द प्रत्येक व्यवहार अनेकान्तमय है।

लोक व्यवहार में भी स्याद्वाद की उपयोगिता—अभी तो यह सिद्धान्त की बात कह रहे हैं। हम आप सबका लोक व्यवहार भी अनेकान्त के बिना चल नहीं सकता। दूसरों से व्यवहार करते हैं, लेनदेन करते हैं तो दोनों बातें चित्त में हैं तब लेन देन चलता है, नित्य भी और अनित्य भी। यह मनुष्य वही का वही है। जैसे आज किसी को कुछ रुपया दे रहे हैं और दो साल बाद उससे लेंगे और यह भी चित्त में है कि दो साल का समय गुजरेगा तब हमको लाभ होगा। परिणमन भी चित्त में है, नित्यपना भी चित्त में है, अनेक व्यवहार करते हैं। किसी एक पुरुष में ही पिता पुत्र मामा भान्जा आदिक अनेक सम्बन्ध हम समझते हैं और समय-समय पर उन सम्बन्धों का हम प्रयोग करते हैं तो यह सब अनेकान्त की ही तो बात है। खान-पान व्यवहार सब कुछ लुप्त हो जायेगा यदि अनेकान्त रूप सब कुछ न होता। गेहूं है, यदि वह परिणमकर आग बनकर सिककर रोटी न बनती, ऐसा परिणमन न होता तो क्या कोई खा लेता ? और कदाचित् ऐसा परिणम हो जाय कि गेहूँ में हाथ लगाते ही रेत बन जाय तो क्या कोई खा लेगा ? गेहूं अपने उपादान को अन्त तक न छोड़ेगा। रोटी बनने तक गेहूँ की ही बात रहेगी उसमें। वह अन्वय न मिटेगा। यह नित्य न मिटेगा तब रोटी खा सकते हैं और कदाचित् नित्य ही बना रहे तो उसमें परिणमन ही नहीं होगा। जैसे एक मोटे रूप में दृष्टान्त ले लो कि वह कुलडू मूंग जो

१० दिन भी पानी में पकायें तो भी सीझती नहीं है, पत्थर जैसी ही रहती है। ऐसे ही यदि गेहूं नित्य ही रहे, उस कुलडू मूंग की तरह कुछ भी परिणमन न कर सके तो उसे कौन खा लेगा? नित्यानित्यामक पदार्थ है तब खान-पान का, व्यवहार का, लेनदेन का यह सब व्यवहार हमारा बनता है। न केवल नित्य होने में व्यवहार बनेगा और न केवल अनित्य होने में व्यवहार बनेगा। तो यह अनेकान्त व्यवहार व्यवहार में भी उपकारी है, कल्याण के लिए भी उपकारी है।

परमज्योति की प्राप्ति का प्रथम परम उपाय—उस परमज्योति को प्राप्त कर लेने के उपाय में यह स्याद्वाद ही समर्थ है। हम उस ज्योति को अन्य समस्त परभावों से पृथक् समझ सकें ऐसी कला स्याद्वाद की कृपा से ही तो प्राप्त होती है यह अपने आपके सहज सत्व के कारण अपना सहज स्वरूप है और समस्त परपदार्थ परभावों से न्यारा है, ऐसी बात समझ में आये तभी तो यह उपयोग विकारों को न ग्रहण करके केवल एक ज्ञानस्वरूप को ही ग्रहण करेगा। यह सब स्याद्वाद की ही तो कृपा है। जैन शासन का अगर कोई खास काम हैं, इसकी कोई खास विशेषता है तो यह एक प्रमुख विशेषता है कि स्याद्वाद की विधि से वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय कराया गया है जिसे यथार्थ निर्णय के कारण जीवका मोह दूर होता है और मोह दूर हो जाना ही एक श्रेय चीज है, कल्याणभूत बात है। तो जो उस ज्योति को प्राप्त कराने में उपाय भूत है परमागम का बीज अनेकान्त स्वरूप है उस अनेकान्त को मैं नमस्कार करता हूं।

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥३॥

निरूप्यमाण परमागम—ग्रन्थ कर्ता कहते हैं कि परमागम को बड़े प्रयत्न से निरख करके मैं इस पुरुषार्थ सिद्ध्युपायका उपोद्धरण करूंगा, जो परमागम तीनों लोकको प्रकाश करने के लिए नेत्र के समान है अर्थात् जैसे नेत्र अवलोकन करते हैं स्पष्ट, इसी तरह यह परमागम तीनों लोक का अवगम कराता है। कितना बड़ा लोक है। यों तो वैज्ञानिक पद्धति में जितना जो कुछ आंखों दीखा या जहां तक पहुंच हो उतनी ही दुनिया मानी जाती है किन्तु जहां तक यहां के मनुष्यों की पहुंच है क्या दुनिया उतनी ही है? परमात्मा ने उस समस्त लोक को बताया जिसे अवधि ज्ञानियों ने अपने अवधिज्ञान में भी जाना और केवल ज्ञानियों ने अपने केवल ज्ञान में समझा। वे हैं ऊर्द्ध मध्य और अधोलोक। उन समस्त लोकों में किस जगह क्या-क्या रचना है और अतीत काल में क्या हुआ था, भविष्यकाल में क्या होगा, इन सबका संक्षेप से दिग्दर्शन कराने वाला यह जैन परमागम है। इस परमागम का प्रयत्नपूर्वक हमने निरूपण किया है। निरूपण का अर्थ लोग प्रतिपादन कर लेते हैं, पर उसका अर्थ है 'भली प्रकार से अवलोकन करना' ऐसे परमागम को जानकर, निरखकर, तथा उसका मर्म पहिचान कर अब पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय इस ग्रन्थ में कहेंगे।

पुरुषार्थ—पुरुष नाम है आत्मा का और उसका अर्थ है अर्थात् प्रयोजन है शाश्वत शान्ति का मिलना। आत्मा को शाश्वत शान्ति मिले, उसका उपाय इस ग्रन्थ में कहा जायेगा। पुरुषार्थ ४ बताये गये है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन चार पुरुषार्थों में से मोक्ष पुरुषार्थ की बात कही जा रही है। पूर्व तीन पुरुषार्थ तो इस लोक में ग्रहस्थों के लिए बताये गये हैं और चतुर्थ पुरुषार्थ संसार के संकटों से सदा के लिये छूटने के लिये बताया गया है। मोक्ष पुरुषार्थ अर्थात् शरीर से, कर्म से, विकारों से छूट जाने का जो उपाय है उसे मोक्ष कहते हैं मोक्ष पुरुषार्थ। जब यह जीव विकार और विकल्प के अनुभव में नहीं रहता तो फिर इसे शान्ति के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। स्वयं ही अपने आप शान्ति आ जाती है। जब यह जीव विकार और विकल्पों में, राग द्वेष भावों में, किसी चिन्ता शल्य शोक इनमें जब नहीं फंसता है तो स्वयं ही

इसे आत्मा ज्ञान नेत्र से स्पष्ट झलकता है। इस अपने आत्मा के निकट पहुंचने में ही जीव को शान्ति लाभ है। अन्य कितने ही उपाय कर डालें, पर अन्य उपायों से जीव को शान्ति नहीं मिल सकती। धनिक बनना, इज्जत पोजीशन आदि की चाह करना—ये सब असारभूत बातें हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की आवश्यकता--अहो, कैसा अज्ञान का अंधेरा छाया है कि इस मायामयी दुनिया में लोग अपने नाम का विकल्प किया करते हैं, पर यह तो बताओ कि इस दुनिया के लोगों ने कुछ नाम ले लिया तो उससे आत्मा का क्या हित होगा? लोग इस दुनिया को अपनी ओर आकर्षण करने में अपना भला समझते हैं और इस दौड़ में आज के मानव लग रहे हैं और आत्म-हित की बात चित्त में भी नहीं देते। बिरले ही पुरुष ऐसे होते हैं जो मात्र आत्म हित की धुन रखते हैं अन्यथा लोक तो बह रहा है, बाहरी झंझटों में ही आकर्षित हो रहा है। उन सब झंझटों के अभाव की साधना के लिये इस ग्रन्थ में मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि करने का उपाय कहा जायेगा।

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥४॥

मुख्य और उपचार विवरण—पदार्थ का स्वरूप जानने के लिये दो प्रकार के विवरण होते हैं—एक मुख्य विवरण और एक उपचार विवरण। मुख्य और उपचार का सही स्वरूप समझ लेने पर समस्त अज्ञान दुर्बुद्धि कुमति समाप्त हो जाती है। किसी भी वाक्य में यह निरखना चाहिए कि यह वाक्य मुख्य कथन करता है अथवा उपचार कथन करता है। एक सामने से कोई सिंह आ रहा है और कहें कि यह सिंह आया और एक पुरुष का नाम सिंह हो और कहें कि यह सिंह आया तो इन दोनों की बातों का आशय क्या एक है? सिंह आता हो तब सिंह बोलना मुख्य कथन है और एक किसी पुरुष का नाम सिंह रखकर कहें कि यह सिंह आया तो यह उपचार कथन है। मुख्य कथन सीधे उस ही वस्तु को ग्रहण करता है और उपचार कथन एक दूसरी वस्तु का ग्रहण करता है।

वचन व्यवहार में मुख्य व उपचार कथन की छांट—अपनी बोलचाल में भी इस प्रकार की छांट करना यह भी एक ज्ञान कला है। इसमें मुख्य बात क्या है और औपचारिक बात क्या है? घी का घड़ा उठा लाओ। पानी का लोटा ले आवो, नहाने की बाल्टी ले आवो आदि कितनी बातें व्यवहार में बोली जाती हैं पर क्या यह मुख्य कथन है? यह कथन उपचार का है। कोई घी का भी घड़ा होता है क्या? अरे जिस घड़े में घी रखा है उसे लोग घी का घड़ा बोल देते हैं। तो यह घी का घड़ा कहना उपचार कथन है। कोई बाह्य वस्तु हमें दुःख नहीं देती यह बात बिल्कुल निश्चित है। हम ही अपनी कल्पनायें बनाकर किसी बाह्य-वस्तु पर दृष्टि देकर दुःखी होते हैं वहां यह कहना कि इस पुरुष ने इसे दुःखी कर दिया, यह मुख्य कथन है या उपचार कथन है? उपचार कथन है। निमित्त नैमित्तिक भाव ऐसा है कि जिसमें यह सारा विश्व गुंथा हुआ है। इस शुभ अशुभ परिणाम करते हैं उसका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म बंध जाते हैं और जब पुद्गल कर्म का उदयकाल आता है तो यह जीव क्रोधादिकरूप परिणाम जाता है। वहां यह कहना कि देखो कर्म ने इसे क्रोधी बना दिया अथवा कर्म ने इसे परतन्त्र कर दिया, यह कथन उपचार कथन है। तथ्य वहां यह है कि कर्मों के उदय का निमित्त पाकर यह जीव अपने में विकार भाव उत्पन्न करके स्वतन्त्रता से स्वयं परतन्त्र होता है। निमित्तनैमित्तिक भाव का निषेध नहीं किया जा सकता है, जिसपर भी प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है अर्थात् केवल अपने ही परिणामसे परिणमते से हैं, तो इस सब कथन में यह जानते रहना चाहिए कि यह मुख्य कथन है अथवा यह उपचार कथन है।

व्यवहार और निश्चय के यथार्थ मर्मज्ञों की तीर्थ प्रवृत्ति—मुख्य और उपचार, इन दो प्रकार के कथनों के विवरण से दूर हो गया है समस्त अज्ञान जिनका ऐसे लोक ही, व्यवहार और निश्चय के यथार्थ स्वरूप को समझने वाले लोग ही तीर्थ में परिणति करते हैं अर्थात् धर्म का पालन करते हैं, धर्म मार्ग में बढ़ते हैं। व्यवहार भाषा में अनेक कथन उपचार के आते हैं। दीपक ने इस पुस्तक को प्रकाशित कर दिया, हाथ ने यह छाया बना दी, आग ने पानी को गर्म कर दिया, अमुक ने उसे क्रुद्ध कर दिया आदि कितनी ही बातें बोलते रहते हैं पर और उपाय क्या है जल्दी जल्दी बोलने का ? यह सब यों हो गया कि इस दीपक का निमित्त पाकर यह पुस्तक अन्धकार अवस्था को छोड़कर प्रकाश अवस्था में आ गयी। इस हाथ का निमित्त पाकर यह नीचे की जमीन प्रकाश अवस्था को छोड़कर उतने हिस्से में कुछ छाया रूप परिणम गई। अग्नि का सन्निधान पाकर पानी अपनी शीतल अवस्था को त्याग कर उष्ण अवस्था को प्राप्त हो गया। निमित्त नैमित्तिक भाव सब जगह है और उसके बिना विभाव परिणमन नहीं होता, तिस पर भी प्रत्येक पदार्थ निमित्त का अंशमात्र भी ग्रहण किए बिना अपने आपके ही पूरे परिणमन से परिणमते रहते हैं। यों सर्व परिस्थितियों में व्यवहार और निश्चय का जो यथार्थ स्वरूप जानते हैं वे ही धर्मतीर्थ में परिणति करते हैं।

स्वातन्त्र्य के चिन्तन में लाभ—भैया ! हमें छूटना है विकारों से। जो कर्म विकार उत्पन्न करते हैं, वे गम खायेंगे, वे शिथिल होंगे तो ये विकार मिटेंगे। ऐसी आशा में तो हम अपने में कोई मार्ग ही न पा सकें। तत्व वहां यह है कि कर्मोदय तो निमित्त है, पर परिणमनने वाले तो हम स्वयं हैं। हम ज्ञानमात्र हैं। जितना भी हमें अवकाश मिले उतना ही ज्ञान की ओर आयें। हम ही विकार अवस्था को त्यागकर निर्विकार रूप बनेंगे ऐसी सामर्थ्य हम में है, ऐसी श्रद्धा हो तो हम यह उत्साह बना सकेंगे कि इन विकार भावों को त्यागकर निर्विकार स्वरूप में अपनी दृष्टि लगायें। जब तक आत्मा की शक्ति का भान न होगा तब तक हम विकारों से छूटने का साहस नहीं बना सकते। हम दीन हैं, गरीब हैं, हम लोगों के सहारे रहते हैं, हमारी इज्जत पोजीशन सब उन लोगों से है, यों जब तक परतन्त्र बुद्धि रहेगी तब तक यह अपने में बल कहां बढ़ा सकेगा ? निमित्तनैमित्तिक भाव होकर भी हमें स्वतन्त्रता के चिन्तन में अधिक यत्न करना चाहिये।

स्वातन्त्र्यकी रुचि न होने कारण—देखो भैया ! बात दोनों हैं कि नहीं। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी है और समय वस्तुओं का स्वतन्त्र-स्वतन्त्र परिणमन है। इन दोनों बातों में से एक निमित्तनैतिक भावको ही लेने की रुचि जगा लेना और स्वतन्त्रता की ओर रुचि न जगना—इसका अर्थ क्या है ? सीधा अर्थ है--संयोगबुद्धि है. पर्यायबुद्धि है। व्यवहार में एक रुचि जगी हुई है, उससे क्या कल्याण होगा ? अनादिकाल से अब तक यह जीव व्यवहार बुद्धि में ही रहा। अहंकार, ममकार, कर्तृत्वबुद्धि, भोक्तृत्वबुद्धि—इनमें ही इसका समय बीता और इनमें समय बीतने का कारण है अज्ञान, वस्तु स्वरूप का स्वतन्त्र दर्शन न होना। अब मन पाया है, ज्ञान हुआ है, धर्म का समागम हुआ है, तब हमें चाहिये कि हम अपने आत्मा की शक्ति का भान करें।

स्वसामर्थ्यके भान के अभाव में पारतन्त्र्य—एक सिंह का बच्चा किसी गड़रिया ने पाल लिया। अब वह बकरियों के बीच रहने लगा। बकरियों की तरह से सिंह के बच्चे के भी कान पकड़ कर गड़रिया ले जाता। वह सिंहका बच्चा दीन होकर चलने लगा। जब उसे कोई अवसर मिल जाए, अपने बल का पता हो जाए तो झट दहाड़ करके छलांग मारकर निकल जाए। ऐसे ही यह जीव भ्रमबश पराधीन बन रहा है, इसे अभी अपनी शक्ति का भान नहीं है। जब कभी अवसर मिले, अपनी शक्ति का भान हो जाये तो यह अपनी पराधीनता को एकदम समाप्त कर देता है। जब तक पराधीन है, तब तक अपने आप में यह उत्साह ही क्या करेगा ? प्रभु अरहंतदेव के एक समवशरण की परिस्थिति में उनके परोक्ष दर्शन करते हुए जब उनके गुणों पर दृष्टि पहुंचेगी तो एक बहुत विशेष आल्हाद होगा और वह यों होगा कि उस गुण दृष्टि के होते ही अपने आपके गुणों का विकास होने लगता है और

जब ऐसे उनके गुणों की अपने गुणों की एक समानतासी बनती है, तब यह समस्त विकल्पों को छोड़कर उस समय आनन्द का अनुभव करता है। आत्म शक्ति का भान हो जाना —यह भी बहुत बड़ा पुरुषार्थ है।

सहज भाव की दृष्टि का पुरुषार्थ—हम आप सब स्वयं आनन्दमय हैं। कष्ट का कहीं नाम ही नहीं। क्या कष्ट है ? यह परिग्रह, धन आये अथवा न आये, पर मन के विचार, मन की भावना विचित्र होगी। अपने इस अनन्त समृद्धिशाली परमधनी ऐश्वर्य चमत्कार सम्पन्न निज प्रभु के निकट कुछ रहना बन सके तो इससे बढ़कर और समृद्धि क्या है ? ये बाहरी चीजें नष्ट हो जाने वाली हैं और जब तक रहती हैं, तब तक अनेक विकल्पों का कारण बनती हैं और तृष्णा का उत्पादक बनती हैं। जब तृष्णा जग गई तो पाये हुए धन से लाभ क्या ? उसका सुख भोग ही नहीं सकता क्योंकि उसकी दृष्टि और अधिक धन पाने के लिये लग गई है। तब पाये हुए धन का भी वह सुख पा नहीं सका। असार विनश्वर पराधीन परविभाव की आशा में क्यों रहा जाए ? हो रहा है गुजारा ? गुजारा ही मात्र करने का यहां काम है, क्योंकि इससे अधिक कुछ और होना नहीं है। कर्त्तव्य तो आत्महित का है। मैं अपने इस शुद्ध निराकुल ज्ञायकस्वरूप निज आत्मप्रभु के निकट रहूँ—ऐसा यत्न बन सके तो इससे बढ़कर इस लोक में और कोई दूसरा काम नहीं है। यही सच्ची कमाई है, तथ्यभूत वैभव का अर्जन है।

सम्यग्ज्ञान में आनन्दस्वरूप प्रापकता—अपने आन्दमय स्वरूप के दर्शन की बात प्राप्त होती है सम्यग्ज्ञान से और सम्यग्ज्ञान वह है कि जो पदार्थ जैसा है तैसा ही भान रहे और सीधा वह ही पदार्थ भान में रहे। उपचार से या परम्परा से या निमित्त आदिक की बुद्धि से निरखियेगा तो वहां हम सीधा पदार्थ को नहीं जान सकेंगे, यद्यपि ये उपाय हैं पदार्थ को जानने के। अगर कोई पुरुष केवल उपाय तक ही रहे ओर उपेय पर न पहुंचे तो उससे उपाय का क्या उठता है ? कोई पुरुष किसी राजा से मिलने के लिये जाता है तो दरबान से कहता है कि मुझे राजा से मिलना है, मिला दो। दरबान उसे ले जाता है, पर दरबान का साथ कब तक रहता है ? जब तक वह राजा के निकट नहीं पहुंचता। तब तक वह दरबान का भी उपकार मानता है कि मुझे यह पहुंचा रहा है। यदि निकट पहुंचने पर भी वह दरबान की प्रीति ही बनाए रहे तो वह राजा के पास पहुंचेगा कैसे ? लेकिन वहां वह दरबान को छोड़कर राजा से बात करता है। इसी प्रकार हमारे में जानने के अनेक उपाय हैं—नय, व्यवहारनय, निश्चयनय। इन सब उपायों से हम उस अन्तः पदार्थ को जानेंगे। अब जान लेनेके बाद भी हम उन नयों को ही पकड़े रहें, उलझन में ही रहें, विवाद कर बैठें, हम उस निराकुल शांत प्रभु के स्वभाव का अनुभव न करें तो यह ज्ञान पाया किस लिये है ?

वर्तमान ज्ञानोपयोग— हम आप सबने जो ज्ञान पाया है, वह अनन्त पुरुषों के मुकाबले अच्छा ज्ञान पाया है। क्षयोपशम अच्छा मिला है। जिस ज्ञान से हम बड़े-बड़े व्यापारों के काम सुलझा लेते हैं, जिस ज्ञान से हम लौकिक बड़ी विकट समस्याओं का हल कर डालते हैं, क्या उस ज्ञान से हम इतना नहीं कर सकते कि जान जाऊं मैं कि यह मैं आत्मा क्या हूं ? पर इस ओर रुचि हो तो जानने में देर न लगे। अन्य लौकिक विद्या के परखने में विलम्ब न लगेगा। बस, केवल एक रुचि भर की आवश्यकता है, इसी के लिये ही स्तवन है, बारह भावनाएं हैं, स्वाध्याय है, सत्संग है, संयम है, चारित्र है, व्रतनियम है। सब कुछ एक इतने मात्र के लिये है कि अपने आपको जान जाऊं, जैसा कि मैं विशुद्ध ज्ञान स्वरूप हूं और इस ही जानने में निरन्तर बना रहूं, इतने मात्र काम के लिये जीवन भर इतने सब श्रम करने होते हैं। अपने जीवन का कुछ न कुछ लक्ष्य तो होना ही चाहिये।

लक्ष्यभ्रष्टों के अर्थसिद्धि का अभाव—लक्ष्यविहीन नाविक नदी में कभी पूरब, कभी पश्चिम, कभी उत्तर और कभी दक्षिण दिशा में डोलता रहता है। वह किसी किनारे पर नहीं पहुंच सकता। उसे तो लोग उन्मत्त बुद्धि वाला कहते हैं। यों ही समझो कि जो मानव अपने जीवन का कुछ लक्ष्य नहीं बनाता है, उसकी सभी चेष्टायें उन्मत्त जैसी होती हैं। मैं केवल ज्ञानानन्दमात्र हूं, इस प्रकार का अनुभव ज्ञान द्वारा जगे, एकरस होकर मेरी परिणति बने,

जहां एक निर्विकल्प अनुभूति होनी है, समस्त विकल्प जहां नष्ट हो जाते हैं—ऐसी मेरी निज अनुभूति बने, इतने मात्र के लिये ही मेरा सब कुछ आचरण है, धर्मपालन है। एक लक्ष्य अपने आपका बने तो अपने को श्रेय की प्राप्ति होगी, कुछ मिलेगा, आत्मलाभ होगा, इससे विशुद्ध लक्ष्य बनाने का भरसक प्रयत्न करना चाहिये। इतनी बात तो समझ में रखनी ही चाहिये कि वैभव से मुझे क्या प्रयोजन ? जब जितना उदय में है उतना आयेगा, उदय में नहीं है तो न आयेगा, उसके आने से लाभ कुछ नहीं, उसके न आने से हानि कुछ नहीं। जैसी स्थिति होगी, वैसी ही हमारे शरीर की स्थिति बनी रहेगी। कर्तव्य तो हमें अपने आपके हित मार्ग का साधन करना है। यह लक्ष्य बनायें और इस ओर अपनी दृष्टि दें। इसी बात को बताने के लिये इस पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ का अवतार हुआ है।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोध विमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

भूतार्थ और अभूतार्थ नय—नय दो प्रकार के हैं—एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। निश्चयनय तो भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। भूतार्थ का अर्थ है भूत अर्थ वाला। भूत मायने जो हैं—ऐसे अर्थ को जो बताये उसे भूतार्थ कहते हैं। अभूतार्थ का अर्थ है—अ मायने नहीं, भूत मायने होना। ऐसे अर्थ को बताये जो न हो, वह अभूतार्थ है। वस्तु जैसा है, सीधा उसका जो दर्शन कराये, उसे निश्चयनय कहते हैं और किसी वस्तु में वह बात तो नहीं है, पर किसी के सम्बन्ध से कोई बात मान लेना यह व्यवहारनय है, अभूतार्थ है। यह सारा विश्व, जगत के प्राणी भूतार्थ के ज्ञान से तो विमुख हैं और अभूतार्थ की दृष्टि में अनादिकाल से लगे ही आ रहे हैं अर्थात् व्यवहार में तो ये जीव अनादि से पगे चले आ रहे हैं, पर निश्चय की दृष्टि इस जीव को नहीं हुई, इसी कारण उस व्यवहार दृष्टि के विष को दूर करने के लिए, जिसमें यह जीव अनादि से पगा चला आ रहा था, उस दृष्टि विषको दूर करने के लिये निश्चयनयका अधिकतर उपदेश दिया गया है।

भूतार्थ और अभूतार्थ का विवरण—भूतार्थ का उदाहरण ऐसा समझिये कि जिस पदार्थ में जो सहज-स्वभाव है, अनादि अनन्त शाश्वत् जो परिणामिक भाव है, उसका प्रतिपादन करे वह है भूतार्थ। आत्मा चैतन्य-स्वभावमात्र है, आत्मा ज्ञायक स्वरूप है—ऐसी दृष्टियां दिलाना सो निश्चयनय है और जो बात सीधे जिस पदार्थ में नहीं है, किन्तु कोई अन्य का आश्रय करके बात बताये, वह व्यवहारनय है। जैसे ये देव, मनुष्य, तिर्यंच, पशु, पक्षी इन्हें निरखकर कहते हैं कि ये जीव हैं तो यह है अभूतार्थ अर्थात् जो आंखों दिख रहा है वह जीव कहां है ? जीव तो किन्हीं भी इन्द्रिय द्वारा गोचर नहीं होता। जो इन्द्रियगोचर है, वह सब पौद्गलिक है, अजीव हैं, उसे जीव कहना यह है अभूतार्थ, व्यवहार की बात। सो देख ही लो प्रायः करके लोग ऐसा समझ रहे हैं, तभी तो परस्पर व्यहार भी करते हैं। यह जीव है, यह मनुष्य है, पुरुष है, आत्मा है, यह है व्यवहार की बात।

व्यवहारनय का तत्व से सम्बन्ध—भैया ! व्यवहारनय भी एकदम अटपट नहीं बोल दिया जाता। लगाव हो, सम्बन्ध हो, तथ्य हो, फिर परका आलम्बन लेकर बताना, वह है व्यवहारनय। जैसे पशु पक्षी को देखकर हम कहते हैं यह जीव है। क्या उसमें जीव नहीं है ? जीव है, पर जीव का जो सहज स्वरूप है, जो जीव के ही सत्व के कारण जीव में शाश्वत् पाया जाता है, उस रूप में निरखकर तो नहीं कहा जा रहा यह। अब यह व्यवहार बन गया। कोई व्यवहार होता है सद्भूत, कोई व्यवहार होता है असद्भूत। जैसे आत्मा तो चैतन्य स्वरूप मात्र है, उसे यों समझना कि जिसमें ज्ञान है, दर्शन है, वह आत्मा है, उसे भेद करके समझाना—यह सद्भूत व्यवहार है और जैसे इस शरीर को देखकर कहते हैं कि यह जीव है तो यह असद्भूत व्यवहार है

अथवा जैसे घड़े में घी रखा रहे तो उसे घी का घड़ा कहते हैं —यह असद्‌भूतव्यवहार है।

प्राणियों की भूतार्थ बोध विमुखता—इस जीव ने पदार्थ के निरपेक्ष वास्तविक स्वरूप का परिचय नहीं किया, इसी कारण सहज स्वरूप को छोड़कर अन्य-अन्य रूप में इस जीवने पदार्थ का स्वरूप माना है। निश्चयनय से अपने आत्म तत्व का परिज्ञान कर लेना—यह बन्धन के तोड़ने का उपाय है। व्यवहार तो निश्चयनय के जानने का उपाय है। व्यवहार में ही रहना चाहिए। पहली पदवी में निश्चयनय की बात सुननी भी न चाहिए, जाननी भी न चाहिए। ऐसा प्रमाद अथवा ऐसी बुद्धि स्वयं सोच लो, उस जीव की उन्नति कष्ट कर सकने वाली होगी। जो परमशरण है, जो वस्तु गत बात है, उसको सुनने और समझने से भी निरुत्साह आ जाएगा तो फिर किस स्वरूप में उत्साह किया जाए ? यह बुद्धि केवल बाहरी-बाहरी पदार्थों में भटके तो इसको तत्व कहां मिलेगा ? अतः बड़े प्रयत्नों से निश्चय की बात को समझना चाहिए। अपने आपके स्वरूप का परिचय करना चाहिये कि मैं स्वयं सहज किस स्वरूप हूं रूप।

भूतार्थ बोध विमुखता में प्रायः संसार की स्थिति—संसार में अनन्त जीव हैं—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय तक तो मन बिना होने के कारण इस तत्व ज्ञान से अनभिज्ञ थे। अब जो संज्ञी जीव हैं, उनमें देख लो। ये असंख्याते तिर्यंच और देव, नारकी तथा ये संख्याते मनुष्य इनमें भी कितने जीव ऐसे हैं जो निश्चयनय की दृष्टि करते हों और निश्चयनय के विषयभूत अंतस्तत्व में रुचि लगायें हों, प्रायः सारा ही संसार इस निश्चयनय के ज्ञान से अनभिज्ञ है। यह तो खेद की बात है तब लक्ष्य अपना ठीक सही बनाने के लिए उत्कृष्ट अंतस्तत्व का ज्ञान करना ही चाहिए। सामान्य जीव स्वरूप के सम्बन्ध में पशु पक्षी आदि हों अथवा साधु मनुष्य हों सब ज्ञानी जीवों का लक्ष्य एक रहता है और सबके उपयोग में वह सहज ज्ञायक स्वरूप अंतस्तत्व समाया हुआ है।

भूतार्थ बोध विमुखता पर खेद—अब समझ लीजिये कि जिस तत्व ज्ञान से पशु पक्षी भी सम्यग्दृष्टि होते हैं और उनकी प्रगति होती है उस निश्चय तत्व के लिए हम मनुष्य जन मना करें अथवा उपदेश दें कि निश्चयनय को न छूना चाहिये। यह हमारी पहली पदवी है, हमें व्यवहार में ही रहना चाहिए, सोच लीजिए यह बहकाना कितना लाभकारी होगा ? निश्चयनय का परिज्ञान करें और जब तक उस निश्चयनय के विषय-भूत तत्व में मग्न हो सके, स्थिर न हो सके तब तक अपने में विषय-विषयों का जोर न बन जाय एतदर्थ शुभोपयोग व्रत नियम आदिक व्यवहार का प्रयोग करते रहें। शरणभूत तत्व तो वह निश्चय अंतस्तत्व है। मुझे क्या बनना है ? केवल जो मैं सहजस्वरूप हूं वैसा ही रह जाऊं, अन्य जो कुछ पर उपाधि अथवा विकार आये हैं वे सब टल जायें, ऐसी स्थिति में जो कुछ हूं उस ही में रह जाऊं केवल यही एक चाह है, यही कल्याण का पद है। इस बात को हम समझें भी न कि वह सहज स्वरूप क्या होता है तो उपाधियों से विकार से छूट कैसे सकते हैं।

निश्चय की भूतार्थता और व्यवहारनय की अभूतार्थता—निश्चय तो भूतार्थ है और व्यवहार अभूतार्थ है। भूतार्थ मायने सत्यार्थ। जैसा है वैसा ही सीधा सही कह देना सो भूतार्थ है। और कोई बहाना पाकर, निमित्त पाकर, सम्बन्ध पाकर उसे अन्य रूप कहना यह सब व्यवहारनय है। यों तो निश्चयनयों में ही परिवर्तन चलते रहते हैं कि जो बात अभी निश्चय है उससे और अधिक अभेद की दृष्टि होने पर व्यवहारनय हो जाता है लेकिन जो परमशुद्ध निश्चयनय है जिसका विषय अपने आपके शुद्धचित्स्वभाव को दिखाना है उस नयके मुकाबले में तो सारे ज्ञान अन्य हैं। अन्य-अन्य सारी बात कहना व्यवहार है और इसी कारण जीव में जो विषय कषाय विचार वितर्क बुद्धियां विकल्प उत्पन्न होते हैं वे सब व्यवहार हैं, वे जीव नहीं हैं।

जीव तो केवल शाश्वत चैतन्य स्वरूप ही है, यों लिरखना पदार्थ को सो निश्चयनय है और भूतार्थ है।

व्यवहार दृष्टि का रोग—इस संसारी जीव पर दृष्टि का महान् रोग चला आ रहा है। कब इसने निश्चयनय की बात समझी, व्यवहारको व्यवहार भी न जाने तो भी व्यवहार के प्रयोग में ही रहा यह। जहां कहीं भी रहा निगोदमें भी एकेन्द्रियमें विकलत्रयोंमें असंज्ञियों में संज्ञियों में जहां जहां इसने जन्म लिया, जो जो इसने शरीर पाया बस उस परिस्थिति को मानता रहा कि यह मैं हूं और इसही दृष्टि से इस जीव ने बड़े क्लेश पाये, मान अपमान माना। किसी ने कुछ नीच बात कह दी। गाली बक दी तो यह आग बबूला होता है। मुझे यों कहता है। अरे तू तो चैतन्यमात्र है जिसमें किसी चीजका संयोग भी नहीं हो सकता। तू तो केवल अमूर्त शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र है, तेरेका लगता ही कौन है इस दुनियामें? जिसने गाली दी, दुर्वचन कहे उसने तुझ चैतन्यमात्र आत्मतत्वको निरख नहीं पाया। वह तो एक इस इन्द्रियगोचर शरीर के ढांचे को निरखकर जिसका कि लोग नाम भी रख लेते हैं उसे कुछ कह रहा है। वह तो तू नहीं है। फिर क्यों यह अपमान महसूस करता है कि इसने मेरी निन्दा की है। अरे तू तू ही है, तेरी निन्दा कर ही नहीं सकता। तू तो ऐसा अनन्तगुणों का पिण्ड है कि तेरी कोई प्रशंसा भी कर ही नहीं सकता। ऐसा तू सबसे न्यारा आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है। ऐसे आत्मतत्व को निरखना सो यह है भूतार्थ सत्यार्थ निश्चय। और इस शाश्वत स्वरूप से चिगकर अन्य अन्यरूप अपनी प्रतीति करना, सो सब व्यवहार है। यह संसार प्रायः भूतार्थके बोध से शून्य है।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥

व्यवहारविवरणकी आवश्यकता—यहां एक शंका उठी हुई थी कि जब व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है तब केवल भूतार्थनयका ही उपदेश करना चाहिये। अभूतार्थ व्यवहार की तो बात भी न करना चाहिये थी। इसके उत्तर में यह गाथा कही गई है कि भाई जो अज्ञानी प्राणी हैं, अबुध हैं, परिचय-शून्य हैं उनके समझाने के लिये मुनीश्वर आभूतार्थका उपदेश करते हैं। जैसे किसी ने संस्कृत में आशीर्वाद दिया—स्वस्ति। तुम्हारा कल्याण हो, मंगल हो, चिरंजीव हो। सभी अर्थ इसमें भरे हैं, जिसका सीधा अर्थ है तुम्हारा अविनाश हो। पर कोई राजा इस आशीर्वाद का अर्थ न समझे तो वह नेत्र खोलकर टकटकी लगाकर निहारता रहता है कि यह साधु मुझे क्या कह रहा है? अब उस राजाको समझानेका उपाय और क्या है? जिस भाषा को राजा जानता है उस ही भाषा में वह साधु आशीर्वाद के शब्द बोले तो राजा झट समझ जायेगा। पहिले तो अर्थ नहीं समझ सका था पर जब उसकी ही भाषा में वे शब्द बोले जाते हैं तो वह झट समझ जाता है और सुनकर बड़ा खुश होता है। तो वैसे अबुध राजा को समझाने के लिए व्यवहार भाषा का प्रयोग किया गया, इसी तरह यह अज्ञानी जगत् भूतार्थके बोध से विमुख है। वस्तु के सत्यस्वरूप को समझता ही नहीं है। उसे समझाने का उपाय भी यह व्यवहार है अभूतार्थ है।

व्यवहारभाषाका प्रयोजन—जैसे इन अज्ञ पुरुषों को उपदेश में कहा जाय आत्मा आत्मा, परमब्रह्म, कहते जाइये। उसका कुछ अर्थ ही नहीं आया। तो उसको समझाने के लिये उसका भेद किया जाय, गुण बताये जायें, परिणतियां दिखायी जायें तब जाकर वे समझेंगे। तत्व इसमें तो अद्वैत है, अखण्ड है अवक्तव्य है, केवल एक अनुभवगम्य है। उसे समझाने के लिये जो भाषा कही जायेगी वह भेदपरक भाषा होगी। अरे भाई जो जानता है, देखता है, आचरण करता है वह परब्रह्म है, वह आत्मा है इस प्रकार आत्मा का स्वरूप समझाया जाय तो वे आत्मा को समझ सकते हैं। तो भूतार्थ तत्व को समझाने के लिये अभूतार्थ का आश्रय किया जाता

है। लेकिन जो केवल व्यवहारको ही जानता है और व्यवहारकी ही हठ करता हैं उसके लिये उपदेश ही नहीं है। जो भव्य हो, जिसे आत्मकल्याणकी वाञ्छा हो, जो व्यवहारका पक्ष न लिए हो, हठ न किये हो ऐसे पुरुष को उपदेश है। जिसका आशय ऐसा पवित्र हो कि जो सही बात हो, हितरूप बात हो उसे ग्रहण करे, ऐसा विशुद्ध निर्मल आशयवान् कोई भव्य हो, चाहे मिथ्यादृष्टि हो, सम्यक्त्व न जागा हो किन्तु जो ऐसा पात्र हो उसको ही देशना दी जाना योग्य है।

भूतार्थबोधविमुखताकी हठकी चिकित्सा की असाध्यता—जैसे एक कहावत प्रसिद्ध है—पंचों का कहना सिर माथे पर पतनाला यहीं से निकलेगा। इससे भी ज्यादा कोई हठमें हो, पंचों की बातको मानने का वचन भी न कह सके और पतनाला भी वहीं से निकले, ऐसे उदण्ड पुरुष की भांति जो केवल व्यवहार का पक्षपाती है, हठी है, जानबूझकर अर्थात् लौकिक विद्यामें कुशल बनने के कारण जो निश्चयतत्व से विमुख रहता है और भूतार्थ के विरोध के लिये ही निरन्तर कमर कसे रहता है ऐसे हठी पुरुष के लिए देशना क्या करे? जैसे किसी पुरुष को नींद आ गयी हो तो कोई जगाये, जग जायेगा, मगर जो नींद में तो नहीं है, जानबूझकर सोने का रूपक बनाये हो ऐसे पुरुष को जगानेका उपाय व्यर्थ है, इसी प्रकार भद्रमिथ्यादृष्टि हो उसे तो देशना बतायी गयी है किन्तु हठी जानबूझकर लोक विद्याके घमंड में आकर जो सत्य पदार्थ विरोधी रहता है और वस्तुस्वरूप को उस निश्चय भूतार्थ तत्वको समझने के लिए अपना हठ धर्म करता हो, भला बतलावो उसको समझाने के लिए कोई वचन समर्थ भी हो सकते हैं क्या? देशना का प्रयोग भी भद्रमिथ्यादृष्टिके लिये है। जो परिचित तो नहीं है उस निश्चय अंतस्सतत्वसे किन्तु भद्रता है, समझायें तो समझने की उसकी आकांक्षा है, ऐसे अबुद्ध पुरुषके बोधने के लिए अभूतार्थनयनका वर्णन किया गया है।

आत्महितकी भावनामें भलाई— इस प्रकरण को सुनकर हम आपका यह कर्तव्य होना चाहिए कि केवल आत्महितकी वाञ्छा से ही धर्म की बात सुनें और उसपर आचरण करने का यत्न रखें। लोकमें कोई अपना मित्र नहीं है। किनका पक्षपात किया जान? सभी जीव असहाय हैं। अपनी अपनी ही क्रियावों के करने वाले हैं। मेरा किसमें हित है? इतनी रुचि होनी चाहिये और इस रुचिपूर्वक निश्चय और व्यवहारनय इनका बोध करना चाहिये और व्रत नियम आदिक पतन से बचने के साधन हैं, उनमें रहकर इसही शुद्ध परमात्मतत्वकी उपासना करनी चाहिए।

माणवक एवसिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एवहि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।।७।।

निश्चयानभिज्ञोंका व्यवहार में निश्चयका निश्चय—जैसे जिस पुरुषने सिंह नहीं देखा, नहीं जाना वह किसी बालक का सिंह नाम रख लिया जाय तो उसे ही सिंह जानने लगता हैं, उसके लिये वह सिंह हो जाता है। इसही प्रकार जो निश्चयतत्व को नहीं जानते हैं उन्हें लोकव्यवहार ही निश्चय बन जाता है अर्थात् वे व्यहारको ही यह सब कुछ है, यह निश्चय है और इससे आगे कुछ नहीं है ऐसा मानते हैं।

सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञानमें व्यवहारप्रियों का निश्चय—जैसे सम्यग्दर्शन तो है रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी अनुभूति होना, किन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन हो, देव शास्त्र. गुरुका श्रद्धान हो, उसरूप अपना कुछ आचरण व्यवहार बनायें, बाह्य विनय रखें, इतने मात्र से संतोष कर ले यह कि मुझे तो सम्यक्त्व जग गया है। जिसे निश्चय ज्ञायकस्वरूपकी अनुभूति नहीं हुई है वह तो ऊपरी व्यवहार सम्यग्दर्शनमें ही सतोष मानता है। मुझे सम्यग्दर्शन हो चुका है, मैं सम्यग्दृष्टि हूं और अन्य जनों को वह कुछ घृणा नीच की दृष्टि से देखने लगता है क्योंकि निश्चयतत्वका बोध न होने से वह व्यवहारको ही निश्चय मानने लगा है। इसी

प्रकार सम्यग्ज्ञान तो है सर्वविविक्त विशुद्ध आत्मतत्त्व का परिचय होना, पर यह सम्यग्ज्ञान न हो, और कुछ लौकिक शास्त्रों का ज्ञान हो, कुछ शास्त्रों का परिचय हो जाय या अन्य गणित जैसी कलावों की जानकारी हो जाय, इन ज्ञानों से ही अपने को सम्यग्ज्ञानी मान लेते हैं और इस मान्यता में उसे अहंकार भी हो जाता है। तो निश्चय सम्यग्ज्ञान का जिसे परिचय नहीं है वह व्यवहारिक ज्ञान सम्यग्ज्ञान को ही निश्चियरूप मान लेता है।

सम्यक्चारित्रमें व्यवहारप्रियों का निश्चय – सम्यक्चारित्र तो है यह कि विशुद्ध ज्ञायकस्वरूप में उपयोग को मग्न करना, केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना, किन्तु इस परिस्थिति का जिसे अनुभव नहीं हुआ वह मनुष्य व्यवहारिक दया, सत्य पालन, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य पालन, परिग्रह से दूर रहना, बाह्य समितियों का पालना, बड़ा तपश्चरण करना—इन कार्यों को करके ही यह सन्तोष कर लेता है कि हमने सम्यकचारित्र का पूर्ण रीति से पालन किया और जो सम्यक् चारित्र के मर्म से परिचित नहीं हैं वे दूसरों की भी ऐसी देह संबन्धी क्रियाएं देखकर प्रशंसा कर लेते हैं कि भाई हमारा सम्यक् चारित्र बहुत ऊंचा है, निर्दोष है। यद्यपि ये सब बातें आती हैं किन्तु यह सब किसलिए किया जा रहा है ? हमारा लक्ष्य क्या है ? उसकी झांकी न हो, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में मग्नताका यत्न भी न हो, ऐसी स्थिति में रत्नत्रयका लाभ तो नहीं मिल पाता। तो जिन्होंने निश्चयको नहीं जाना उनका व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त हो जाता है।

अभूतार्थ की हठ में देशनाकी अपात्रता—इससे पहिले छंदों में यह बताया था कि निश्चय तो भूतार्थ है और व्यवहार अभूतार्थ है। यह सारा विश्व भूतार्थ के ज्ञान से विमुख है इसे खेद के साथ कहा गया था। अनादि काल से जीवों को व्यवहार व्यवहारका ही तो परिचय चला आया है। जिस भव में गया उस भव में अन्य पशु पक्षी आदिक की पर्यायों में 'यह मैं हूँ' इस प्रकार की प्रतीति रखकर ऐसा ही तो आचरण किया अनन्त काल इस ही व्यवहार में बीता तो व्यवहारका तो चाहे वे विश्लेषण न कर सकें कि यह व्यवहार है लेकिन व्यवहार में पगे जरूर चले आये हैं। व्यवहार का विश्लेषण वह पुरुष कर सकता है जिसे निश्चय का तो परिचय हो क्योंकि जिसे निश्चय का परिचय नहीं है वह व्यवहार को व्यवहार मान ही नहीं सकता। उसके लिए तो वही सर्वस्व है। कोशिश होना चाहिए कि हम निश्चय तत्त्व को, अन्तःमर्म को शाश्वत स्वरूप को समझ लें, उसकी दृष्टि बनायें क्योंकि एक उस अंतस्तत्त्व का परिज्ञान किये बिना आत्मा को मोक्ष का मार्ग नहीं मिल सकता है तो जो निश्चय से अपरिचित है, केवल व्यवहार को हो जानता है उसको तो प्रथम छंद में बताया है कि देशना ही नहीं है। उपदेश विफल है। अब इस छंद में यह कह रहे हैं कि क्यों विफल है उपदेश ? यों कि वह व्यवहारको ही निश्चय मान रहा है।

भूलको भूल न मानकर यथार्थता मानने को महाभूल—एक भूल हो जाना और एक भूल हो जाने पर भी भूलको सही समझना इन परिस्थितियों में कितना अन्तर है ? जैसे एक व्यक्ति नींद लेता है और एक व्यक्ति सोने का रूपक बनाता है। इन दोनों में बड़ा अन्तर है। भूल जाने वाला पुरुष देशना का पात्र होता है। भूले हुए को देशना दी जाती है पर जो भूल को सही मानता है और इस पर कुछ ज्ञानी है तो ज्ञान का अहंकार बनाये हुए हैं ऐसे पुरुष को देशना नहीं कही गयी है। अर्थात् जो जान बूझकर हठवाद में है उसे देशनाका क्या फल है ? समझाने का क्या फल है ? तो फलको सही मान लिया जाना, यह बड़ी भूल है। इसी को मिथ्यात्व कहते हैं। रागद्वेष जीव के चलते हैं पर कुछ संत महंत ऐसे होते हैं कि रागद्वेष की बातें आ जाने पर वे उसे भूल जानते हैं, बेकार समझते हैं, कलंक समझते हैं, हेय जानते हैं।

प्राणीकी रागद्वेष में चतुराई की मान्यता—प्रायः सारा संसार रागद्वेष करता हुआ उस ही में अपनी बुद्धिमानी समझता है, मैं ठीक कर रहा हूँ, मैं मकान दुकान वैभव की व्यवस्था बनाता हूँ, मैं बड़ी चतुराई से सब काम कर लेता हूँ। यों रागद्वेष में ही पड़े हैं उसमें भूल नहीं मान पाते, भूलको सही समझते हैं। तो एक मिथ्या

आशय है। किसी पुरुष को गलत रास्ता बता दिया जाय और तिस पर यह कहा जाय कि देखो तुम्हें बहकाने वाले बहुत से मिलेंगे पर किसी की बात न मानना। वे सब बहकाने की बातें कहेंगे और उसके चित्त में जम जाय, वह किसी की बात न माने तो एक तो वह भूल करता है और भूल भूल नहीं है, यही मेरा सही मार्ग है ऐसा आशय रखता है, ऐसे मिथ्या आशय वाले को समझाना बेकार है। जब कभी यह ठोकर खाये, भीतर में कुछ जागृति बने, तब उसका मार्ग सही बन सकता है, जीवन सफल हो सकता है।

भूलको सही मान लेने की विडम्बना—जैसे एक गांव के निकट एक बढ़ई रहता था। वहां से जो मुसाफिर निकले, वह मुसाफिर आगे के गांव का रास्ता पूछे। तो वह गांव तो हो पूरब दिशा में और बता दे दक्षिण दिशा में। साथ ही यह भी कह दे कि देखो इस गांव के लोग बड़े मजाकिया हैं, वे सब उल्टा रास्ता बतावेंगे, उनके कहने में न आना। वह बेचारा गांव में घुसा तो जब मन में आ गया तो उसको पूछने की उत्कण्ठा हुई। जिससे पूछे फलाने गांव का रास्ता कौनसा है तो वह पूरब दिशा को बतावे। उसने सोचा कि देखो बढ़ई ने ठीक कहा था कि इस गांव के सारे लोग बड़े मजाकिया हैं, वे सब उल्टा-उल्टा रास्ता बतावेंगे। तो उसने एकका भी कहना न माना। चलता गया दक्षिण की ओर। जब किसी दूसरे गांव में पहुंचा तो लोगों से रास्ता पूछा। लोगोंने बताया कि तुम तो उस गांव से ही रास्ता भूल आये। वह रास्ता तो उस गांव से पूरब दिशा को गया है। जब उसकी अक्ल कुछ ठिकाने आये, तब जाकर वह दूसरे की बात मान सकता है। पहिले तो कितने ही लोगों ने समझाया था उस गांव में, तब तो किसी की भी नही मानी। जब आशय ऐसा रहता है भूल करके भी यह सही बात है ऐसा हठपूर्ण आशय बन जाता है तो उसके लिए फिर देशना काम नहीं करती है। दोनों तत्त्वों को समझाना चाहिए यथार्थ रूप में। व्यवहारनय, निश्चयनय दोनों को समझ करके ही उसे फिर मार्ग मिल सकता है, इसी बात को अगले छंद में कह रहे हैं।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥

देशना की पात्रताका वर्णन—देशना का पात्र कौनसा शिष्य है? इसका विवरण इस छंद में दिया है। जो व्यवहार और निश्चय को समझ करके मध्यस्थ बन जाता है, किसी भी नयके पक्षपात में नहीं पडता है, तत्त्ववेदी होता है, ज्ञातादृष्टा रहता है— ऐसी जिसकी उत्कण्ठा रहती है, कहते है कि उपदेश का पूर्ण फल तो वह शिष्य प्राप्त कर सकता है। देखिए व्यवहार और निश्चय के स्वरूप को सही जानने के लिए इतना साहस होना चाहिए कि जब व्यवहार की बात कही जाए, सुनी जाए, देखी जाए, जानी जाए, तब निश्चय की अपेक्षा न रखकर उसकी दृष्टि न रखकर केवल व्यवहार व्यवहार से देखो। यह एक तरीका है कि प्रारम्भ अवस्था में मेरे स्वरूप को जानने के लिये और जब निश्चयतत्त्वका जानने चले तो उस समय व्यवहारकी रंच भी अपेक्षा न करें, केवल निश्चय के स्वरूप को जानें। एक बार ऐसा किए बिना स्वरूप दृढ़ता से सही नहीं बैठ पाता है उस नयसे।

निश्चय और व्यवहारके अवबोधनजा विवरण - जैसे निश्चयनय स्वाश्रित होता है, वह केवल वस्तुके शाश्वतस्वभाव को देखता है और केवल उसी में, उस वस्तु के चतुष्टयमें ही दृष्टि लगाता है ऐसी दृष्टि बनाते समय जब जाना जा रहा है कि प्रत्येक वस्तु अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे है, अपने ही प्रदेशोंमें निरन्तर परिणमता हुआ चला जाता है, अपने ही गुणपर्यायोंमें तन्मय होता है। चित्त में ऐसा उद्वेग न लाना चाहिए कि अरे तो क्या सब अपने आप हो जाता है? कोई निमित्त न हो तो कैसे हो जाता है? अरे एक निश्चयके स्वरूपको समझने के सम्बन्धमें केवल वैसा ही दिमाग बनेगा। एक बार निश्चयके ठीक स्वरूप को समझनेकी दिशा मिल जाए, झांकी हो जाए, फिर बात करना कि ऐसा भी है, व्यवहारदृष्टिसे जब निरखते

हैं तो ऐसा भी है। समयसारमें एक ही छंदमें किसी तत्त्वकी बात कहनी हुई तो यद्यपि इस नयसे ऐसा है, तथापि इस नयसे ऐसा है, ऐसी झांकी प्रायः अनेक स्थलों पर होती है। उन दोनों नयोंसे वस्तुके स्वरूपको जानकर फिर जो मध्यस्थ बनता है, वह देशनाका पात्र है और ज्ञानी है।

ज्ञानीकी नयमध्यस्थता—ज्ञानी पुरूष किसी पक्षपात में नहीं चलता, इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों को एक समान निरखकर रहता नहीं, किन्तु एक पदवीकी ऐसी श्रेणी है, दिशा है कि व्यवहार नयका पहिली पदवी में अध्ययन और साधना करके लक्ष्य अपना बारबार उस अतस्तत्त्वका बनाये रहता, तब वह इस योग्य हो जाता है कि अंतस्तत्त्वका सीधा उपदेश ग्रहण करने लगता है और फिर यद्यपि वह निश्चयनयका विषय है, लेकिन निश्चय-नयका विकल्प भी न रहकर उस ही अंतस्तत्त्व में मग्न होने का यत्न करता है। नयकी दृष्टि नहीं ग्रहता है, अपना काम करता है। जो तत्त्ववेदी पुरुष है, उसके लिए तो वह चित् चित्स्वरूप ही है।

व्यवहारका उपकार और निश्चयका शरण—देखिए, निश्चयनयकी दृष्टिका कितना बड़ा शरण मिलता है और व्यवहार नयके उपकार को भी देखिये कि यह व्यवहारनय, निश्चय के निकट ले जाकर खुद अपने आपको स्वाहा कर लेता है और इस उपासकको, कल्याणार्थीको उस तत्त्व का अनुभव कराने के निकट छोड़ देता है। जो पुरुष व्यवहार और निश्चयनयको जानकर यथार्थ रूप को समझकर फिर पक्ष-पात छोड़ देता है, वह पुरुष देशनाका पात्र है। अमृतचन्द्र सूरि ने एक उपदेश में एक निचोड़ के रूप जैसे वाक्यों में स्पष्ट कहा है कि 'जो जीव परद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होने वाले व्यवहारनयमें विरोध नहीं रखता, मध्यस्थ रहता है और फिर निश्चयनयका आलम्बन लेकर मोहको दूर करता है, वह ही अपने आप आत्मा में अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है।' इसमें सारभूत बात क्या मिली कि व्यवहारको जानना, उसका विरोध न करना और आलम्बन लेना निश्चयनयका। इस विधि से यह जीव मोहको दूर कर लेता है।

भूतार्थनयके उपदेशको प्रधानताका कारण—देखिए अध्यात्मग्रन्थों में उस शाश्वत् चैतन्यस्वरूपके उपदेश की बात बार-बार क्यों कही गयी है? यों कि व्यवहार का अधिक उपदेश देना है? उसमें तो यह जीव अनादिसे फंसा है, अनादिसे ही परमें दृष्टि है, इस परसे ही मेरा हित है ऐसा भाव बनाया। हां थोड़ा अन्तर यह पड़ता है कि वहां तो विषयों के साधनों में, व्यवहार में लगा है। अब यह मोक्ष के साधनों के व्यवहार में लग रहा है। ठीक है एक दृष्टि से तो, लेकिन जैसे एक का अंक लिखे बिना बिन्दियां कितनी ही धरते चले जावें बिन्दियोंकी कुछ गिनती भी आती है क्या? नहीं आती। एक लिखनेके बाद जितनी बिन्दियां धरते जायेंगे, उन सबका दस गुना महत्त्व हो जाएगा। एक के पीछे एक बिन्दी रखी तो दस, दस के बाद एक बिन्दी रखी तो १००। यों ही हजार लाख आदि की गिनती बढ़ती चली जाती है। ऐसे ही समझिए कि यह एक आत्मतत्त्व जो अपने आपके सत्त्वके कारण सहजस्वरूप 'मैं हूं' उसका भान हो जाए, तब फिर व्रत नियम सब कुछ जो भी किये जायेंगे, जो भी आचरण किये जायेंगे, वे सब इस एकके लक्ष्यको पोषने में मदद देंगे और इस एकका लक्ष्य नहीं है तो वे ही क्रियायें लौकिक यश, लौकिक सुख, लौकिक नामवरी आदिक विकल्पों में सहायक बन जायेंगे।

लक्ष्यहीनोंका अनिर्वहण—जब कभी किसीके ऐसा होता है कि तपश्चरण बहुत करता है और अन्त में आस्था गिर जाती है और उल्टे मार्गमें लग जाता है। उसका कारण क्या है? उस एक विशुद्ध आत्मस्वरूपका लक्ष्य न था, तब केवल व्यवहारके आलम्बन से लोगोंको रिझानेका भाव बना और कोई रीझता है कोई नहीं, सबकी अपनी-अपनी कषायें हैं। कोई मानता है कोई नहीं मानता। कोई घटना ऐसी घट जाय तो वहां फिर अनास्था हो जाती है। वे अपने धर्ममें तपश्चरणमें भी नहीं लग पाते हैं। तो मूल लक्ष्य अपने आत्मतत्त्व का परिचय होना तो अत्यन्त आवश्यक है और एक बात वैसे ही बतावो कि इस ज्ञानके लगामको क्यों रोका जाय? यह ज्ञान

बहुत भीतर जाकर सभी पर्दोंको छोड़कर खूब अन्तरङ्गमें जो कुछ भी सहजतत्त्व है उसको देखता है तो देखने दो। इस ज्ञान की लगाम क्यों लगाते ? क्यों इसे मना करते ? उस विशुद्ध आत्मस्वरूपको परखने दो, उसमें कहीं धोखा नहीं है।

नयमध्यस्थतामें विकासमार्ग—मध्यस्थ होनेका यह आशय है कि व्यवहारनयका तो विरोध न रखें, यों बनें मध्यस्थ और निश्चयनयका आलम्बन करें जिससे मोह दूर हो और फिर निश्चयका भी पक्ष विकल्प न रखें। केवल एक शुद्ध चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव करें। इस तरहकी दृष्टि लेनेका यत्न जिनके होता है, जिनके ऐसी धारणा है ऐसे ही पुरुष, शिष्य देशनाके पूर्ण फलको प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थका प्रारम्भ करने से पहिले प्रशस्तिमें श्रोताको ऐसा सावधान किया गया है कि वह व्यवहार और निश्चयका यथार्थ स्वरूप जाने और व्यवहारका विरोध न रखकर निश्चय का आलम्बन करके दोनोंके पक्षसे दूर होकर निर्विकल्प अनुभूतिको प्राप्त करे।

अस्तिपुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समुदितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ।।६।।

चिदात्माका अस्तित्व—इस ग्रन्थमें पुरुष अर्थात् आत्माके प्रयोजनकी सिद्धिका उपाय बताया गया है, इसमें उत्थानिकाके बाद सर्वप्रथम यह बतला रहे हैं कि पुरुष है कुछ क्या ? जिसके प्रयोजनकी सिद्धि का उपाय कहा जा रहा है उस पुरुषके अस्तित्वकी सिद्धि इस गाथामें की है। "पुरुष है" सर्वप्रथम अस्तित्व सिद्ध किया जा रहा है, है ना कुछ यह तभी तो आकुलताएं अथवा कुछ शान्ति सुख दुःख ये समस्त परिणमन हुआ करते हैं। पुरुष है कौन ? और वह पुरुष चैतन्यात्मक है। चेतनेका स्वभाव है तभी तो सुख दुःख विचार सभी कुछ चेतते रहते हैं। दिखने वाले इन अचेतन स्कंधोंसे विलक्षण कोई यह पदार्थ है और यह स्पर्श रस गंध वर्णसे रहित है। जो स्पर्श रस गंध वर्णवान् है वह चैतन्यात्मक होता ही नहीं। चैतन्यात्मक कोई भावात्मक पदार्थ है, अब जो भी भावप्रधान पदार्थ है वही पुरुष है।

एक कल्पना द्वारा सत्का विस्तार—द्रव्योंका कुछ विवरण पानेके लिए एक दृष्टि से ऐसा देखें—यद्यपि ऐसी व्यवस्था नहीं है कि कोई एक सत् हो और वह नाना दृष्टियोंसे नाना जातियोंमें दीखे। फिर भी सत्त्व सामान्य लक्षणकी दृष्टिसे समस्त पदार्थोंको सत् रूप मानकर और सत रूप स्वभाव से एक रूप निरखकर फिर अब दृष्टियां डालिये जब कि समस्त पदार्थ नाम, स्थापन्न, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव यों षडात्मक हुआ करते हैं, कुछ भी पदार्थ लो उसमें ये ६ बातें पायी जाती हैं। जैसे एक घड़ी ही लो तो इसका नाम अवश्य है। नाम बिना व्यवहार नहीं चलता। जिसमें हम नाम घटायें बस वह हुआ नामात्मक और जो कुछ भी यह पदार्थ है इसमें हमने घड़ीकी स्थापना की है। जब हम 'लोग यह घड़ी है' इस शब्दसे पुकारें तब समझियेगा कि यह पदार्थ है। इसी प्रकार समस्त पदार्थोंमें स्थापना बसी हुई है। यों कहो कि एक समझौता बसा हुआ है मनुष्योंका। हम इन शब्दोंसे कहें तो इस अर्थको समझना, इस पदार्थको समझना, ऐसी यहां स्थापना है और यह द्रव्यरूप है, पिण्डात्मक है, तथा भाव रूप है, शक्तिरूप है। इन चार निक्षेपोंके अतिरिक्त दो और धर्म हैं क्षेत्र और काल। यह घड़ी अपने आपको जितने प्रमाणमें विराज रही है उतने प्रदेशोंका नाम क्षेत्र हैं और निरन्तर कुछ अवस्थायें बनाती रहती है, तभी तो ५-७-१० वर्ष गुजरनेके बाद यह घड़ी पुरानी शिथिल कमजोर और बेकार हो जाती है। ऐसी यह जीर्ण शीर्णताकी बात कहीं एक मिनटमें नहीं आ गयी किन्तु १० वर्षों से बराबर इसका इस ओर परिणमन चल रहा था घिसनेकी ओर यह जब बहुत कुछ ऐसा घिसनेरूप परिणम गयी तो आज ऐसी विकृत हो रही है। तो इसमें काल भी निरन्तर है, यों समग्र पदार्थ नाम, स्थापना द्रव्य, भाव, क्षेत्र और कालरूप हैं।

नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भावकी दृष्टि और जीवकी भावप्रधानता—प्रकृतमें यहां एक ऐसी कल्पनायें करके कि सभी कुछ सत्रूप है तो इस सत्रूपतामें भी हम इन ६ दृष्टियोंको लगायें। सभी सत् हैं। ठीक हैं पर सत्त्व की दृष्टिसे सब एक हैं। अब उनमें हम ६ दृष्टियोंको लायें तो यों निरखें ऐसी एक अपनी तर्कणा बनायें जिससे कुछ एक विशिष्ट मर्म ज्ञात होगा। कोई पदार्थ नामात्मक है, नामप्रधान है, कोई पदार्थ स्थापना प्रधान है, कोई द्रव्यप्रधान, कोई भावप्रधान, कोई क्षेत्रप्रधान और कोई कालप्रधान है, इसके विश्लेषणमें अब चलें तो निरखिये नामप्रधान पदार्थ है धर्मद्रव्य, क्योंकि नामका जो काम है वह है चलना। नाम चला करता है, नामसे चलने का व्यवहार बनता है। नाम धरे बिना क्या 'चलेगा ?' लोग नाम बोलने की बात भी भारी सोचा करते हैं। चलने वाली चीज सब जगह नाम ही तो है। सब चीज हैं, मान लो नाम रखनेकी पद्धति कुछ न हो तो क्या करोगे ? पड़े रहें जहां हैं तहां पदार्थ रहें। न कुछ मतलब बने, न व्यवहार चले, न एक दूसरेसे किसीका उपकार बने, वह बनता रहे। तो धर्मद्रव्य का काम चलनेमें सहायक होना है। वह नामप्रधान तत्व है। स्थापनाप्रधान है अधर्मद्रव्य। स्थापित कर दे, स्थित करा दे, ठहरा दे, चलते हुए जीव पुद्गल को ठहरानेमें सहायक अधर्मद्रव्य है। पिण्डप्रधान पदार्थ है पुद्गल, जैसे पिण्ड पुद्गलका समझमें आता वैसे किसी द्रव्यका नहीं आता। हाथ पर धरकर दिखा दो, सामने बता दो, यह है चौकी, यह है भींत, सीधे पिण्ड नजर आ रहे हैं। क्षेत्र प्रधान पदार्थ है आकाश उसका क्षेत्र है, सर्वस्व है। कालप्रधान पदार्थ है, कालद्रव्य। पर जीव है यह भावप्रधान। जीव मे चैतन्यभाव नजर आता प्रधानता से, यों तो सभी पदार्थ षडात्मक हैं, अपना-अपना गुणपर्याय अपना अपना पिण्ड कहलाता है। किन्तु एक लक्ष्यमें प्रधानतासे कुछ धर्म आया इस दृष्टिसे देखने हैं। तो जीव भावप्रधान तत्व हुआ।

जीवका प्रासंगिक पांच विशेषतायें जीवमें स्पर्श रस गंध और वर्ण नहीं हैं और वे अपनी गुण पर्यायोंमें समवेत है। सम्वेतका अर्थ है तादात्म्य रूपसे रहना। जिसमें गुण तो शाश्वत तादात्म्यमें है और पर्याय पर्यायके कालमें तादात्म्य है। यों यह पुरुष आत्मा अपने गुणपर्यायोंमें समवेत है तथा यह पुरुष भी उत्पाद व्ययध्रौव्य करके समुदित है अर्थात् यह प्रतिक्षण उत्पन्न होता है, व्ययको प्राप्त होता है और सदैव रहता है। यों अस्ति, चिदात्मा, मूर्तिकता से रहित, गुणपर्यायोंमें समवेत, उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त यों ५ विशेषण कहे गए हैं। इनमें सर्वप्रथम अस्ति कहा है। किसी पदार्थ का अस्तित्व निश्चित होनेपर ही उसके सम्बन्धमें आगेकी बात चलती है। यों हो तो कुछ नहीं और बड़ी बड़ी बातें बनायी जायें तो उसकी क्या प्रतिष्ठा है ? तो सर्वप्रथम अस्तित्व बताना चाहिए। यह पुरुष अर्थात् आत्मा है। जो है होता है वह अपने स्वरूपसे है और परस्वरूप से नहीं है। इस धर्मको साथ लिए हुए है। कुछ भी पदार्थ हो यदि वह है ही तो वह अपने स्वरूपमे है अन्य हव परस्वरूपों स नहीं हैं।

पुरुषका चिदात्मत्व—जब अपने स्वरूपसे यह आत्मा है तो उसमें असाधारण स्वरूप क्या है ? यह घटाने के लिए विशेषण दिया है चिदात्मा। यह चैतन्य आत्मा। चैतन्यकी वृत्ति है चेतना। वह चेतना दो प्रकारसे है—सामान्य चेतना, विशेष चेतना। किसी भी पदार्थका प्रतिभासने का काम है। इस पुरुषका तो वह प्रतिभासन दो प्रकार से होगा—एक सामान्य प्रतिभासन, दूसरा विशेष प्रतिभासन। प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है। तो उस पदार्थमें गुण भी सामान्य विशेषरूप है, पर्याय भी सामान्य विशेष रूप है। वह द्रव्य भी स्वयं सामान्य विशेषरूप है। पदार्थ चूंकि सामान्य विशेषरूप है, अतएव उसका सब कुछ सामान्य विशेषरूप हुआ। पुरुषमें जो चेतनाकी वृत्ति पायी जाती है, वह सामान्य विशेषरूप है। सामान्य चेतना का नाम है, दर्शन और विशेष चेतना का नाम है ज्ञान। यह पुरुष चेतनात्मक है, इसका अर्थ यह है कि यह ज्ञान दर्शनस्वरूप है। इसे अब यों निरखिये कि सामान्य दर्शन किसी विशेषकी अपेक्षा नहीं रखता, उसमें आकार प्रकार का प्रतिभास

नहीं होता, यदि हो तो वह विशेष प्रतिभास होगा। तब सामान्य प्रतिभासका काम यह रहा कि जिस किसी भी प्रकारके प्रतिभासको करने वाले इस पुरुषको जो अपनी दृष्टिमें लेना है, अवलोकन करना है तो वही समझिए दर्शनका काम है और स्वके विषयमें अथवा परके विषयमें जो विशेषरूपसे ज्ञान होगा, प्रतिभास होगा, वह ज्ञान है विशेष प्रतिभास। यों यह आत्मा सामान्य विशेष प्रतिभासस्वरूप है।

पुरुषके चिदात्मत्वका विश्लेषण—कुछ लोग इस चेतना के विरोधी हैं, पुरुषको भौतिक मानते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु—इनके सम्बन्धसे यह चैतन्यशक्ति उत्पन्न हुई है। जैसे कि कोदो आदि अनाज पड़ा हुआ है, जब उसे अनेक बार धोते हैं, उसकी कोई विशेष दशा बनती है तो उससे मदिरा उत्पन्न होती है। ऐसे ही यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु जब एक मिल जाते हैं, सही स्पीडसे, सही डिग्रियों में ढंगसे जब मिल जाते हैं तो वहां एक चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है, इन भूतोंके सिवाय अन्य कुछ पदार्थ है नहीं। यों चैतन्यका निषेध करने वालेके प्रति यह विशेषण है कि यह प्रतिभास चिदात्मक है। कोदो आदिकमें जो मदिरा आदिक उत्पन्न होती है, किन्हीं क्रिया विशेषसे तो वह मदिरा जैसा परिणमन होने की बात उसमें थी, इसकी जातिसे कुछ अलग बात नहीं हुई है। कारणके मिलने पर अपनी ही जातिमें, सीमामें वह परिणति बन गई है, पर यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके मिलने पर भी कुछ इस पदार्थकी जातिके खिलाफ कोई शक्ति प्रकट हो जाए, यह नहीं हो सकता। यह चैतन्यात्मक पदार्थ अचेतनसे पृथक् अपने स्वस्वरूप है।

पुरुषकी अमूर्तता ण गुणपर्ययसमवेतता—यह चैतन्यात्मक प्रतिभास, स्पर्श, रस, गंध, वर्णोंसे रहित है। जो पदार्थ स्पर्शवान् है, जिस पदार्थमें ये चार गुण पाए जायें, इनका परिणमन पाया जाए, वे तो सब स्थूल पदार्थ हैं, एक पिंडात्मक पदार्थ हैं। उन स्थूल पदार्थोंमें चेतन जैसे सूक्ष्म भावोंका स्वरूप बनना असम्भव है। यह चैतन्यात्मक प्रतिभास स्पर्श, रस, गंध, वर्णोंसे रहित है। इसका गुण है ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, आनन्दशक्ति, सर्वगुणोंके अवधारणकी शक्ति आदिक अनेक गुण हैं और उन गुणों के प्रति समय परिणमन होते हैं। उपाधिके सम्बन्धकालमें उसमें विकृत परिणमन होते हैं। और निरुपाधि स्थिति में स्वाभाविक परिणमन होता है। हैं सभी गुण निरन्तर परिणमनस्वरूप। जो परिणमन है वह पर्याय है और परिणमन जिस शक्तिका होता है वह गुण है। गुण शाश्वत् रहता है, सदैव रहता है और पर्याय अपनी कालमें रहती है, मगर पर्यायके कालमें यह आत्मा उस पर्यायसे तन्मय ही है। यों यह चिदात्मक प्रतिभास जो कि अमूर्त है, फिर भी अपने गुणपर्यायों में समवेत है।

पुरुषकी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता—अन्तिम विशेषण है कि यह पुरुष उत्पादव्ययध्रौव्यसे समुदित है। सभी पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं। सत्का स्वरूप ही यह है—'उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्'। कोई पदार्थ उत्पाद तो करता है, पर व्यय अथवा ध्रौव्य उसमें नहीं है तो वह पदार्थ है ही नहीं। कोई व्यय करे और उसमें उत्पादध्रौव्य न हो तो भी वह है, नहीं है अथवा कोई पदार्थ ध्रुव रहे, पर उत्पादव्यय न बने तो भी वह पदार्थ है, नहीं है। हठवाद की बात अलग है। इन तीन गुणों में से कोई भी एक गुण हो और बाकी गुण नहीं है—ऐसा हठ करें तो वह उनका अपसिद्धान्त है। जिसे ऐसा माना भी है कि ध्रुवप्रधानता देखकर सर्वथा ध्रुव मानने का सिद्धान्त भी एक है नित्यवादी। जैसे एक सत् है, ब्रह्म है और सदैव अपरिणामी है, उसमें कभी विकार नहीं होता, कभी परिणमन नहीं होता। यहां तक माना है कि यह ब्रह्म चैतन्यस्वरूप है, पर इसमें ज्ञान परिणमन नहीं होता। ब्रह्म है चित्शक्ति, जिसकी वजहसे प्रकृतिका गुण ज्ञान है, वह पुरुष में झलकता है। यों मानकर नित्यवाद का पोषण किया है। उन्हें यह भ्रम था कि ब्रह्ममें, आत्मामें यदि ज्ञान मान लें तो ज्ञान तो सर्वत्र यह ही दिख जाता है कि नानारूप है, आकार-प्रकारका जितना है परिणमन है। कुछ ज्ञान हुआ, मिट

गया, अब दूसरा ज्ञान बना जो। तो यों तो ब्रह्म अनित्य बन जायेगा। अतएव उस अपरिणामी चित्स्वरूपात्मक ब्रह्म को गुण ज्ञान भी नहीं माना गया है। यों कोई सिद्धान्त केवल ध्रौव्यके हठमें उतरे हुए हैं।

उत्पाद व्यय होने पर भी पदार्थकी ध्रुवता—कोई सिद्धान्त ध्रौव्यको न मानकर उत्पाद व्ययकी हठमें उतरे हुए हैं। कोई चीज शाश्वत रहती नहीं है। जिस समय जो है वह उस समय है, अगले समय वह नहीं रहता है। अगले समय जो हो वह उस समय में है, वह आगे-पीछे रहता ही नहीं। यों केवल विवर्तमात्रको ही समग्र पदार्थ मान लें तो यही है उत्पाद व्ययकी हठ। ध्रौव्यको कुछ माना ही नहीं, ऐसा भी क्षणिकवाद जैसा सिद्धान्त है, लेकिन एक बात तो सोचिये कि जो परिणमन होता है, जो परिवर्तन होता है, उसमें कोई ध्रुव पदार्थ तो है कि जिसमें परिवर्तन बने कि अब यह परिणमन हो गया। जैसे पुद्गल में ४ शक्तियां हैं—स्पर्शशक्ति, रसशक्ति, गंधशक्ति और रूपशक्ति। इनमें से जब किसी के शुद्ध स्वरूप का विचार करते हैं तो वहां कुछ अत्यन्त सूक्ष्म कोई बात एक समझ में कहने की आती है। उसी शक्तिका यह काला, पीला, नीला, लाल, सफेद और इनकी मिलावट और इनकी कमी आदिमें अनेक प्रकार के परिणमन चलते हैं, वे परिणमन एक रूपशक्ति पर ही तो चल रहे हैं, अभी आम हरा था, अब हो गया पीला तो यही तो हुआ कि जो उसका रूप गुण अभी हरे परिणमन में था वह रूपगुण अब पीले परिणमन में आ गया। पर कोई चीज है जिसमें निरन्तर परिणमन चलते हैं। कभी कुछ अन्तर आता है, अभी हरा था, अब पाव सेकिण्डके लिए कुछ नहीं रहा, यों अन्तर तो न आएगा। वह शक्ति है उस शक्ति में परिणमन होता चला जा रहा है।

त्रिगुणात्मक चैतन्यस्वरूप पुरुष की सिद्धि—यों पदार्थ सब उत्पादव्ययध्रौव्यरूप होकर समुदित हैं अर्थात् हैं, प्रकट हैं, रहते हैं, उनकी सत्ता बनी रहती है। ऐसे समझिए कि इस चैतन्यात्मक पुरुषको यह आत्मा भी प्रतिक्षण उत्पाद व्यय करके भी शाश्वत ध्रुव रहा करता है। यों यह पुरुष उत्पादव्ययध्रौव्य धर्मोंसे समुदित है। यों इस गाथा में पुरुष की सिद्धि की है जिसके प्रयोजनकी सिद्धिका उपाय इस ग्रन्थमें कहा जाएगा। सबसे पहिले हमें अपने बारे में यह निर्णय रखना है कि मैं हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, अमूर्त हूं, अपने ही गुणपर्यायोंमें हूं और प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हूं। यों अपने अपने आपके पुरुषकी, पुरुषके अर्थ की सिद्धि करना धर्मपालन में सर्वप्रथम आवश्यक है।

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स एव कर्ता च भोक्ता च ॥१०॥

अनादि संततिसे आत्माका विपरिणमन—यह आत्मा निरन्तर परिणमता रहता है, इसमें पर्यायें एकके बाद एक बराबर होती चली जाती हैं। सो अनादिकाल से इस आत्मामें ज्ञानकी विवर्तपर्यायें बन रही हैं। रागादिक परिणामोंमें ही लग रहा है, इसलिए अशुद्ध दशा बनी रही है। यह अशुद्धता अनादि संततिसे है, आज ही नहीं हो गई। अनादिकाल से यह आत्मा विकृत बन रहा है और फिर उन रागादिक भावों से फिर नवीन कर्म बंधता है, फिर उन कर्मोंका उदय आता है तो फिर नवीन रागादिक होते हैं। राग और कर्म इन दोनों का बंधन बराबर परम्परासे चला जा रहा है। सो यह आत्मा वास्तव में अपनी ही पर्यायों को करने वाला है। कोई जीव किसी दूसरे पदार्थको नहीं कर सकता और न दूसरे पदार्थ को भोग सकता। अपना परिणाम करेगा तो अपने ही परिणाममें सुख आये, दुःख आये, उसे भोगेगा और जब यह जीव कर्मउपाधिसे छूट जाता है तो फिर यह अपने स्वभावमें परिणमता है।

त्रिविध चेतना--ज्ञान के परिणमनोंकी, चेतनके परिणमनकी तीन जातियां हैं--कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना। किसी भी कर्म में, आत्मा की क्रिया में 'इसे मैं करता हूं' ऐसी बुद्धि बनाये तो उसका नाम

है कर्मचेतना। कर्म का फल जो सुख अथवा दुःख मिला, उसमें याने ज्ञानातिरिक्त भाव में ऐसी बुद्धि बनायी कि मैं सुख भोगता हूं, दुःख भोगता हूं और इसी के सहारे बाह्यविषयों को भोगता हूं, यह भी बुद्धि चलती है, यह है कर्मफलचेतना। सो संसारी प्राणियोंके ये दोनों बातें लग गयी हैं। जो काम करता है यह प्राणी, उसमें यह कर्तृत्व बुद्धि रखता है। मैं करता हूं, मैंने किया, मैं करूंगा, इस प्रकार उसमें कर्मचेतना की बात आती है और जब कुछ भोगता है सुख या दुःख तो उसमें भोगने की बात आती है। मैं भोगता हूं, मैं रस का अनुभव करता हूं। इसे यह पता नहीं रहा कि यह मैं आत्मा केवल ज्ञान की परिणतियोंको तो करता हूं और उससे जो परिणाम बनते हैं, उन परिणामोंको मैं भोगता हूं। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको कर नहीं सकता, क्योंकि कर्ता और कर्म एक ही पदार्थ में होते हैं। जो परिणमे सो कर्ता और उसमें जो परिणमन बने सो कर्म। यों कर्ता और कर्म एक ही पदार्थमें अभेद से होते हैं। आत्मा जो कर्ता है परिणाम ज्ञानकी परिस्थितियां, बस वह तो कर्म हैं और उनका करने वाला आत्मा है और उस समय जो कुछ अनुभवा जाता है, वह भोग और उसके भोगने वाला है जीव।

पुरुषकी अनादिसंततिसे अशुद्धता—यहां अशुद्ध कर्तृत्व भोक्तृत्वकी दशा इस जीव के अनादि संततिसे चली आ रही है। जैसे सोनेमें मिट्टिका सम्बन्ध प्रारम्भ से है। खान से स्वर्ण निकलता है तो वह शुद्ध नहीं निकलता। वह मिट्टी से निकलता है। सोने की उस प्रकार की जो स्थिति है, वह प्रारम्भ से ही है। ऐसा नहीं है कि पहिले शुद्ध सोना हो, फिर उसे मिट्टी में मिलाया गया हो और इस तरह बन जाये। कभी कोई उस सोने की डलीको मिट्टी में भी मिलाये तो भी मिलता नहीं है। लोहे की तरह सोने में जंग नहीं चढ़ा करता। जैसे सोने और मिट्टिका सम्बन्ध अनादिके हैं, इसी प्रकार जीवका और कर्मका सम्बन्ध भी अनादि से है अथवा जैसे तिल में तैल। तिल में तैल कब से आया? जबसे वह तिलका दाना आया, तबसे ही वह तैल है। ऐसा तो नहीं है कि तिलका दाना तो पहिले बना हो और बाद में उसमें तैल आया हो। जिस कमजोर परिस्थितिमें दाना है, उतनी ही कमजोर परिस्थितिमें तैल का भी सम्बन्ध है और जैसे-जैसे दाना बढ़ता जाता है, पुष्ट होता जाता है, वैसे ही वैसे तेल भी पुष्ट होता जाता है। कुछ ऐसा नहीं होता कि तिलका दाना बन जाये और फिर उसमें तैल भरा जाए। जैसे तिल और तैल का सम्बन्ध अनादिसे है। अनादिका का मतलब जबसे वह दाना है, तब से तैल है। दोनोंका सम्बन्ध एक साथ है, इसी प्रकार इस जीवका और कर्मका विकारपरम्पराका सम्बन्ध भी अनादिसे है। यदि पहिले जीव निर्विकार होता तो फिर इसमें कभी विकार नहीं आ सकता। जीवमें विकार अनादिसे है, अनादिसे ही अपने भावोंको करता और अनादि से ही यह अपने भावोंको भोगता चला आ रहा है।

इस बंध के निमित्त से ही आत्मा को अपने ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं होती। यह आत्मा अपनी पर्यायोंको अपना लेता है। आत्मा में पर्यायें बनें, विकार बनें और उन विकारोंको अपनायें नहीं तो वे विकार भी न होने की तरह बनकर खिर जाते हैं। एक पुरुष क्रोध, कषाय करता है और अपनाता है तो अपनाने से उसकी कषाय और तीव्र बनती चली जाती है। एक ज्ञानी पुरुष के कषाय तो उत्पन्न हुई, किन्तु उसे अपनाता नहीं है। यह आफत आयी है, यह मेरा स्वरूप नहीं है, इससे मैं बरबाद हो जाऊंगा। मैं तो केवल जाननहार रहूं, यह मेरी कला है, यह मेरी स्थिति है। इस तरह मैं गुजरी हुई पर्याय से अपने को न्यारा रखने की कोशिश करूं। कषायों को अपनायें नहीं तो यही है जीव की स्वरक्षा।

मोह और रागादिक भाव—इन दोनों में जैसे प्रयत्नसाध्य मोह का विनाश है, राग के विनाश में हमारा प्रयत्न नहीं चल पाता। वैसे कहने को तो यह ठीक जचेगा कि राग तो कमजोर चीज है और मोह प्रबल चीज है तब राग तो जरा से झकझोर में मिट जायेगा, पर मोह के लिए बड़ा प्रयत्न करना चाहिए, पर बात यहां

ऐसी है कि मोह के मिटने में तो सुगमता है, राग के मिटने में कठिनाई है। इसका कारण यह है कि मोह तो मिटता है तत्त्वज्ञानसे, भेद विज्ञानसे। जब ही इस जीव को सर्वपदार्थों का स्वरूप न्यारा जंचेगा और भिन्न-भिन्न पदार्थ ज्ञात होने लगेंगे तो मोह उसी समय टूट जायेगा, क्योंकि मोह नाम प्रेम करने का नहीं है, मोह नाम है अज्ञान का। एक पदार्थ का दूसरा पदार्थ कुछ लगता है, कोई दूसरे का कुछ करता है, इस प्रकार की बुद्धि बनाना, इसका नाम है मोह। मोह में पदार्थ का संयोग समझा जाता है। मोह का दूसरा नाम है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ् अर्थात् दो का सम्बन्ध। जहां दो पदार्थों का संयोग बनाया जा रहा हो आशयमें, वह तो है मोह। मोह तो यों जल्दी दूर हो सकता है कि उसे तो दूर करने के लिए ज्ञान चाहिए। यदि दृढ़ता से यह भेदविज्ञान बने कि प्रत्येक पदार्थ अपनी स्वरूप सीमा में ही रहता है, एकका दूसरे से सम्बन्ध भी नहीं है। इस तत्त्वज्ञान के होते ही मोह दूर हो जाता है। अब मोह दूर होने पर जो चारित्रगुण में विकार, रागद्वेष का आता है, यह कर्मोदय का निमित्त पाकर आता रहता है, इसे अपनाता नहीं है ज्ञानी, फिर भी यह आता है और बहुत समय तक ये इसे सताते हैं, अन्त में इसे बुझाना पड़ता है। लेकिन यों समझिए कि जैसे पेड़ को काट दिया जड़से, यह बड़ा यत्न साध्य है, सुगम है, दो चार कुल्हाड़े वाले लोग लग गये तो काटकर एक ही घण्टे में गिरा दिया। पेड़ कटकर नीचे गिर गया। अब उसके जो हरे पत्ते हैं, उनके सूखने में ६-७ दिन का समय लगता है। ऐसे ही समझिए कि इस मोह का विनाश तो तत्त्वज्ञान से होता है। भेदविज्ञान चाहिए, यह मोह तुरन्त दूर हो जाएगा, किन्तु रागभाव कुछ समय तक और चलेगा।

अहो अज्ञानियों! मोह का विनाश होना यह कैसा कठिन लग रहा है? जैसे बिना साधन के हरे भरे खड़े हुए वृक्ष का गिराना भी कठिन लग रहा है क्योंकि वे सब साधन नहीं बन पा रहे हैं, ढंग नहीं मिल रहा है तो वह पेड़ पूरा का पूरा खड़ा है। ऐसे ही इस मोह के विनाश का साधन नहीं बन रहा है। ज्ञान भेदविज्ञान सत्संग उस ओर ही दृष्टि होना ऐसे साधन जब नहीं बन पाते तो मोह बराबर पूरा का पूरा खड़ा रहता है। इस जीव का सर्व क्लेशों का मूल है मोह अज्ञान और है यह सिर्फ ज्ञान द्वारा मिट सकने की बात है। न जिसमें पैसे का व्यय है, न कोई शारीरिक श्रम है, न किसी दूसरे को मनाना है, न किसी को प्रसन्न करने का यत्न करना है। जहां भीतर में विचारा कि मैं सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ, अपने ही स्वरूप के भावों का कर्ता हूं और अपने ही भावों का भोक्ता हूं, यों अपने भावों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व से आगे मेरा कोई आत्मा नहीं है। ऐसा जब बोध हो तो मोह तुरन्त क्षीण होता है। मोह जहां क्षीण हुआ फिर रागद्वेष का ठिकाना नहीं रहता। रागद्वेष के पनपने का ठिकाना था मोह। जब ठिकाना ही खत्म हो गया तो कुछ समय और तंग करने पर यह अपने आप दूर हो जायेगा। इन सब बातों के लिए हमें भेदविज्ञान की प्रथम आवश्यकता है।

भैया! वह बड़ा भारी सौभाग्य होगा जब चित्त में यह धुन बन जायेगी, अपने आपको सबसे न्यारा अपने का ही कर्ता, अपने का ही भोक्ता इतनी ही मात्र मेरी दुनिया है, ऐसे एकत्व स्वरूप में जब यह लगेगा तो यह बहुत बड़ी भारी इसके सौभाग्यको बात होगी। जब इन चर्मचक्षुवों को खोलकर दुनिया में देखता है तो बहुत बहुत विडम्बनायें इसकी बन जाती हैं और जब इसे बन्द करके ज्ञाननेत्र से अपने आपके भीतर निरखते हैं तो वहां एक भी विडम्बना अथवा क्लेश नहीं मालूम होता। जब भी इस जीव के उद्धार का अवसर होगा तो यह ही करेगा यह जीव। तब भूलको लम्बा करने से क्या लाभ है? यद्यपि गृहस्थावस्था में पचासों झंझट हैं मगर धुन की बात है। किसी भी जगह रहकर आध-आध घंटे बाद या किसी भी समय अपने आप पर दृष्टि दे सकते हैं। यह मैं आत्मा सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ, ऐसी दृष्टि को रोकता कौन है, पर हम ही जब शिथिल हो जाते हैं, हम हीं में उत्साह नहीं रहता तो हम स्वयं दृष्टि नहीं देते हैं।

संसारमें हम आपका कोई साथी नहीं है। जिसे साथी मानते हैं इस जिन्दगी में, तो कदाचित् भाव एक

सा बने, अनुकूल कषायें दोनों में रहें तो साथी माने जा रहे हैं, प्रथम तो वहां भी कोई किसी का साथी नहीं। जिसको जिसमें अपना सुख मालूम होता है उस प्रकार का वह परिणमन करता है और कदाचित् व्यावहारिक साथी मान भी लें तो सर्वप्रथम तो वहां भय है। किसी भी समय प्रतिकूल बात आ जाये, कषाय से कषाय न मिले तो वह प्रीति मैत्री साथीपना भंग हो जायेगा और न हो अब भंग, तो उसको तो एकदम क्लेश आयेगा जब वियोग का समय होगा। जितनी अधिक प्रीति होगी जिन्दगीमें किसी भी जीव से, किसी भी तत्त्व से वस्तुसे, मरणकालमें वियोगके समयमें उतना ही अधिक क्लेश होगा। इस कारण समागमके समय इस बातका अभ्यास करना चाहिए कि संयोग है तब भी समझें कि मेरा यहां है कुछ नहीं। संयोगके कालमें, जो भेदविज्ञानकी भावना बना सकेगा, उसका है कहीं कुछ नहीं। शरीर भी जब मेरा नहीं तो अन्य किसी पदार्थको मैं क्या बताऊं? जो मिले हुए समागममें अभी से ही भेदविज्ञानकी बात बनाये रहेगा, सबसे न्यारा अपने आपको मानता रहेगा तो उसको वियोगके कालमें क्लेश नहीं बनेगा।

भैया! गृहस्थावस्थामें भी इन दो एक बातोंकी आन्तरिक तपश्चरणके लिए बड़ी आवश्यकता है प्रथम तो यह कि जितने समागम मिले हैं, वैभव धन मकान दुकान लौकिक इज्जत सबके प्रति यह भाव रखें कि ये सब विनाशीक हैं और जब तक भी हैं तब तक ये अपना ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य किया करते हैं। उनका कोई उत्पाद व्यय ध्रौव्य नहीं कर सकता। पदार्थ सब जुदे जुदे हैं। तो समागमको विनश्वर जानना और उससे न्यारा अपने आपको निरखना इसका अचिन्त्य प्रभाव अब भी है और भविष्यकाल में भी होगा। और जो इसके विरुद्ध चलते हैं जैसे मान न मान मैं तेरा मेहमान, यह पदार्थ तो इसका कुछ नहीं है, यह अपने उत्पादव्ययमें रहता है, यह अपने परिणमनसे पास है अथवा दूर हो जायेगा। उसका उसके ही हिसाबसे परिणमन चलता है, मगर यह मोही जीव अपनी ओरसे ही यह कहावत चरितार्थ करता है कि मान न मान मैं तेरा मेहमान। कोई भी परपदार्थ मुझे नहीं मानता, मेरे से प्रीति नहीं रख सकता, स्वरूप ही नहीं है वस्तुका ऐसा कि कोई पदार्थ मेरेमें कुछ कर दे। तो सारे पदार्थ तो मुझसे विविक्त हैं, न्यारे पड़े हैं, वे मुझे तो मानते नहीं पर मैं ही अपनी ओरसे उन्हें अपनाऊं, मानूं, मुग्ध होऊं तो इसका फल हम भोगेंगे। खुदको ही तो भोगना पड़ेगा।

इस प्रकरण में इस बात पर दृष्टि दिलायी जा रही है कि हम अपने आपमें अधिकाधिक यह अनुभव करें कि मैं आत्मा हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, गुणरूप हूं और ज्ञान की पर्यायोंसे ही मैं परिणमता रहता हूं। जब अशुद्ध परिस्थिति है तब रागद्वेष मोहरूप परिणमन करता हूं। यद्यपि इन परिणामोंका निमित्त कारण द्रव्यकर्म है लेकिन ये परिणाम ये परिणाम तो भावरूप हैं और उसका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध उसके भावों से है। जैसे अंगुली में जो रूप है, रस है, गंध है, स्पर्श है उसका व्याप्यव्यापकना इस अंगुली में है, आपकी अंगुली में तो नहीं है। जो पदार्थ हो, उसका जो भी परिणमन हो, गुणपर्याय हो, वह सब उस ही पदार्थ में व्यापकर रहता है। तो मेरी क्रियाका ही तो मैं करने वाला हो सकूंगा, मेरी क्रिया है भावात्मक। तो मैं भावकर्म का कर्ता हूं, द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं। इसी प्रकार यह द्रव्य कर्म भी अपने आप में जो भी बात बनती है प्रकृति स्थित आदिक उनका करने वाला है, मेरे परिणामों का करने वाला नहीं है। यह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखकर उपचार से कहा जाता है कि इसने अमुक में क्रोध पैदा कर दिया या कुछ भी कर दिया। यह मात्र औपचारिक कथन है।

वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ अपने आपका परिणमन करता है। अगर २० पुरुषों में परस्पर में मित्रता हो, उनकी बड़ी प्रीतिगोष्ठी बनी हो तो उन बीसों के भी भाव अलग अलग हैं। किसी के भाव का कोई दूसरा करने वाला नहीं है, सब अपने-अपने भावोंसे ऐसी चेष्टा करते हैं कि वह २० लोगोंकी गोष्ठी बन गयी। प्रत्येक जीव

भिन्न-भिन्न हैं, सभी के अपने सुख-दुःख कर्म पुण्य पाप न्यारे-न्यारे लगे हैं और उन कर्मों के अनुसार वे सब फल भोगते हैं। घर में १० जीव हैं जितने दो चार जीव हैं यह बतलाओ कि कोई प्रधान पुरुष जो रात-दिन श्रम करता है, दुकान पर बैठकर खूब कमाई करता है और जो घर में रहने वाले दो चार जीव हैं वे सिर्फ थोड़ा घर की व्यवस्था में रहते हैं, आराम के साधन घर में जुटाये रहने के काम वे सब करते हैं तो उदयकी बात बतला रहे हैं कि पुण्यका उदय अधिक किनके रहा? कमाई करने वाले श्रम करने वालेका पुण्य अधिक रहा या घरके उन दो चार जीवों का पुण्य अधिक रहा? पुण्य तो उन घर के दो चार जीवों का ही अधिक रहा। तो पुण्य सबका जुदा-जुदा है, और उन सबका उदय भला है, घर में रहने वाले पुण्यवान जीवों के निमित्त से वह एक पुरुष दुकान पर बहुत बड़ी कमाई कर लेता है। तो सब जीवों के साथ पुण्य पाप लगे हैं। संसार में पुण्य पाप का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। सबको अपने उदयानुसार सुख अथवा दुःख भोगना पड़ता है। जब सबके कर्म अपने साथ हैं तो फिर कर्तृत्वबुद्धि रखना तो मिथ्याबुद्धि है, मोह की बुद्धि है, इसमें चैन नहीं मिल सकता।

किसी समय तत्व ज्ञान बराबर रहे तो जब चाहे शान्ति है। किसी जीव के प्रति किसी ने कितना ही खर्च किया हो और बाद में वह प्रतिकूल बन जाय तो तत्वज्ञानीको यह धैर्य है कि मैंने कुछ न किया था। उसका ऐसा उदय था कि वह सब होता जाता था। मैं क्या करने वाला था? आज यदि प्रतिकूलता की स्थिति बन गयी, वह पुत्र अनुकूल नहीं चलता तो ठीक है, यह भी एक परिस्थिति है। वह समग्र परिस्थितियों का ज्ञाता दृष्टा रहता है, भीतर में खेद नहीं रखता। भीतर में खेद न रहे, इसका उपाय भेद विज्ञान है, तत्वज्ञान है, जिससे कि ज्ञानी देखता रहता है कि प्रत्येक जीव अपने ही कर्मों का फल भोगता है, अपने ही भावों का करने वाला और भोगने वाला है। मैं किसी अन्य का कुछ नहीं करता, जो करता हूं सो अपने आपके भावों को करता हूँ—ऐसी भेदविज्ञान की दृष्टि रहे तो समझिए कि शांति मिल सकेगी और जहां पर को अपनाने की बुद्धि रही, अपने आपके स्वरूप से च्युत हो जाए, वहां शांति का कोई अवसर प्राप्त नहीं हो सकता। यों इस पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में आगे चारित्रका वर्णन करेंगे, पर उससे पहिले मूलभूत बात जमायी गयी है कि अपना श्रद्धान सही रखें, भेदविज्ञान से हम अपना ज्ञान पुष्ट करें, बाद में रागादिक दूर करने के लिये चारित्रका पालन करें।

सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥११॥

पुरुषार्थसिद्धिप्राप्त आत्मा की कृतकृत्यता—इस ग्रन्थ का नाम पुरुषार्थ सिद्धयुपाय है। पुरुषार्थकी सिद्धि का उपाय, इसमें ४ शब्द हैं—पुरुष, अर्थ, सिद्धि और उपाय। आत्माका प्रयोजन है दुःखसे छुट जाना, इसी को सिद्धान्तकी भाषा में कहो मुक्ति। इस मुक्ति की सिद्धिका उपाय जिस ग्रन्थ में कहा है, उसका नाम है पुरुषार्थसिद्धयुपाय। जब यह पुरुष भली प्रकार पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त हुआ, तब यह उस अचल चैतन्य को प्राप्त करता है, जो चैतन्यस्वभाव सर्वप्रयत्नों से उत्कृष्ट है, तब ही यह जीव कृतकृत्य हो जाता है। अपने आप में अपने आपको विवर्तों से उत्तीर्ण निरखना चाहिये परिणमनों पर दृष्टि न देते हुए, उन्हें उपयोग में न लेते हुए। यद्यपि परिणमन बिना जीव रहता नहीं है, लेकिन यह भी एक कला है कि हम परिणमनों को गौण करके द्रव्यस्वभाव को प्रधान रूप से देखें। जब यह जीव उन परिणमनों को गौण करके अपने आप में अन्तःप्रकाशमान अनादि अनन्त चैतन्यस्वभावको ग्रहण करता है, तब यह कृतकृत्य होता है। कृतकृत्यका अर्थ है करने योग्य काम जिसने कर लिया। काम कर चुकने बर दो स्थितियां होती हैं—काम रहता नहीं और कोई अलग स्थिति बनती है। सम्यग्ज्ञानी पुरुषमें ये दोनों बातें देखी जा सकती हैं कि उसे काम करने को कुछ नहीं रहा। जब यह जाना कि सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं, भिन्न हैं, सभी अपने-अपने गुणपर्यायोंके स्वामी हैं, किसीका किसी से सम्बन्ध नहीं है,

भले ही निमित्तनैमित्तिक भाव है; पर निमित्त तो एक सन्निधान है, कोई निमित्तमें से परिणमन निकालकर उपादान में आते हों ऐसा तो नहीं है; तब प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र हुए, सभी पदार्थ अपने आपके स्वभावसे परिणमने वाले हुए।

जब ज्ञानी पुरुष को ऐसी स्थितिका परिचय होता है तो उसके यह दृढ़ निर्णय हो जाता है कि मेरे करनेको कुछ नहीं रहा। परपदार्थोंमें कुछ किया ही नहीं जा सकता। यह बात दो दृष्टियों से देखी जाती है। एक तो यों कि मैं जानता हूं जिन गुणपर्यायों वाला हूं; अतः मैं अपने ही प्रदेशोंमें व्याप कर रहता हूं। मेरे गुण जो कुछ बनेंगे, वे मेरे ही प्रदेशों में समाप्त हो जाते हैं, मेरे प्रदेशों से बाहर मेरा कोई काम नहीं है। मैं जितनी देहमें मौजूद हूं, उतने से बाहर मेरा कुछ काम नहीं है, उतनेमें ही मेरा सारा काम समाप्त हो जाता है। इस कारण बाहरमें मेरा काम करनेको रहा ही नहीं, एक तो हुई यह दृष्टि और दूसरी दृष्टि यह है—इस दृष्टि से कृतकृत्य जाना जाता है कि तो सर्व भेद-प्रभेदों से रहित एक सनातन चैतन्यस्वभावमात्र हूं। यही है आराधना का उपाय। जो शरणभूत है, मंगल है, ऐसे उस चैतन्यस्वभावको लक्ष्यमें लेकर यह निर्णय होता है कि यह तो करने और भोगनेसे भी परे है। इससे तो बन्ध और मोक्ष का भी विकल्प नहीं है। मैं ऐसा चैतन्यस्वभावमात्र हूं।

कृतकृत्यताके भावसे शांति—भैया ! हम आपको जब-जब भी जितना सुख व शांतिकी प्राप्ति होती है, वह इस बात से होती है कि मेरे करने को अब कुछ नहीं रहा। लोग तो मानते हैं कि मैंने काम किया, इससे सुख हुआ; पर तथ्य यह है कि जब चित्तमें यह बात समाई कि मुझे करनेको काम नहीं रहा, तब उसका आराम है। जब यह करने का आशय पड़ा था कि मुझे तो काम करनेको पड़ा है, तब अशांति थी; पर जब यह आशय बना कि अब मेरे करने को कुछ भी नहीं रहा, तब उससे विश्राम मिला है। यह जीव जब सर्वपदार्थोंको यथार्थ जान लेता है तो इससे यह दृढ़ श्रद्धा बन जाती है कि मेरे करनेको अब कुछ नहीं है— ऐसी दृढ़ श्रद्धा बन जानेसे वह कृतकृत्य हो जाता है। धर्मके लिए यही एक भाव लाना है कि मेरेमें निर्लेपता जगे। ऐसा भाव बने कि मेरे करनेको कुछ नहीं है। मैं यथावत जो हूं सो हूं, इसका कहीं कुछ लगाव नहीं, किसी से यह मेरा आत्मा अटका नहीं, किसी अन्यकी दया से मेरे आत्माका कुछ प्रयोजन नहीं। यह आत्मा स्वयं प्रभु है। ये सभी पदार्थ स्वयं प्रभु हैं, जो अपने आप ही अपने स्वभावके कारण निरन्तर परिणमते रहते हैं। ऐसा जब अपने आपमें सबसे न्यारे एक चैतन्यस्वभावको देखा तो यह जीव अपनेमें कृतकृत्यताका अनुभव करने लगता है।

स्वयंक वृत्तिकी स्वयंपर वर्तना—जब स्व और परका भेदविज्ञान जगे, जब शरीर आदिक परद्रव्यों को भिन्न जानने लगें; तब उन परपदार्थोंमें ये भले हैं, ये बुरे हैं—ऐसी बुद्धिका यह जीव परित्याग करता है। जब किसी बाह्यपदार्थसे मेरेमें कुछ परिणमन नहीं होता तो उसको हम भला अथवा बुरा क्या समझें ? ज्ञानी की आराधना में ऐसी एक विशेषता उत्पन्न होती है। भला और बुरा अपने परिणामों से होता है, परद्रव्योंके करने से नहीं होता। हम पर जो कुछ भी भला अथवा बुरा बीतता है, वह हम अकेले पर ही बीतता है। सब कुछ भला और बुरा अपने परिणामोंसे होता है। जो समस्त परद्रव्यों की आराधनाका त्याग करने पर भी रागादिकभाव उत्पन्न होते हैं तो ज्ञानी पुरुष उनका शमन करने के लिये उद्यत होता है। जो राग होते हैं, उन रागों को धोने के लिये ज्ञानी पुरुष कमर कसे रहा करता है। मुझमें होते तो हैं विभावपरिणमन; किन्तु मैं तो एक चैतन्यस्वभावमात्र हूं। ये होते हैं, मैं जानता हूं। होकर मिटने वाले हैं, इसमें क्या संदेह करना ? ये होते हैं कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर। ये पौद्गलिकविभाव हैं, विकारस्वभाव हैं, ये मैं नहीं हूं। ऐसा उनसे एक विविक्त भाव रखता है कि उन विभावोंसे वह ज्ञानी अपना लगाव नहीं रखता यही है आत्मभक्ति, निजब्रह्म की रक्षा। अपने आपके स्वरूपका ऐसा निर्लेप प्रत्यय बना रहे उपयोगमें कि उन रागादिक भावोंसे अपनेको न्यारा समझे तो यह जीव कृतकृत्य होता है और भली प्रकार पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त हुआ कहलाता है।

आत्माका सविकार और अविकार परिणमन—जैसे क्षोभरहित समुद्रमें तरंग नहीं रहती है, उसी प्रकार क्षोभरहित आत्मामें ये सब क्षोभतरंगें समा जाती हैं। समुद्रमें तरंगें समुद्र के कारण उठ जायें तो ऐसा नहीं हैं। एक बड़ी हवा का निमित्त पाया, तब तरंगें उठीं। जब वे तरंगें हैं, तब भी वह समुद्रका ही परिणमन है; पर वह परिणमन होता है परउपाधिका निमित्त पाकर। जब तरङ्गरहितावस्था होगी तो उस समय समुद्र अपने आपमें जैसा है, वैसा रह जाता है। ऐसे ही ये आत्मामें ये सब तरंगें उठ रही हैं, इन तरंगों का क्या ध्यान करना ? ये कितनी ही प्रकार की तरंगें हैं। ये सब तरंगें खुद में ही उठ रही हैं, पर खुद भी उन्हें नहीं बता सकते। वे तरंगें जो उठीं, वह भी मेरा ही परिणमन है; पर यह परिणमन मेरी ही ओर से मेरे ही सत्वके कारण विना उपाधि पाए हुए रहता हो, ऐसा नहीं है। विकार यद्यपि मेरा ही परिणमन है, पर उपाधिभूत कर्मका सम्बन्ध पाकर हुआ है।

ज्ञानी पुरुष के निर्णयमें कैसा समाधान और समन्वय पड़ा हुआ है कि यह भी निरख रहा है कि उपाधिका सन्निधान पाकर मेरे रागादिक भाव मेरे ही कारण मेरे ही स्वरूप से मेरे ही माया वित्तसत्वकी वजह से उत्पन्न होते हैं, ये मेरे ही स्वभाव से, मेरे ही सत्वसे उत्पन्न हुए हैं और उपाधि नहीं हैं तो फिर स्वभावपरिणमन हो जाएगा, जो सदा रहेगा। ऐसा हो ही नहीं सकता कि उस पदार्थका स्वरूपसे विरुद्ध परिणमन हो और परके सन्निधान बिना हो, ऐसा कोई दृष्टान्त न मिलेगा। अतः परका सन्निधान पाकर हुए हैं, इसी कारण ये मिटाये जा सकते हैं। जैसे दर्पणमें छाया पड़ रही है, वह जो चीज सामने है उसका सन्निधान पाकर पड़ रही है। अतः वह छाया मिट सकती है; उस सामने वाली चीज को हटा लीजिए तो छाया मिट जाएगी। वह सामने वाली चीज सन्निधान है, निमित्त है; उस सन्निधान में यह परिणमन हुआ है, विभाव है, यह मिट जाती है। ऐसे ही रागादिक विकार औपाधिक हैं, अतः ये सब मिट जाते हैं।

ज्ञानियोंका निर्णय—ज्ञानी पुरुषके यह निर्णय पड़ा हुआ है कि किसी भी निमित्तमें अपना गुणपर्याय द्रव्य प्रदेश कुछ भी उसमें नहीं है। इन सब निर्णयोंको कोई कहने लगे कि कोई एक बार में क्या साफ-साफ इसे कह सकता है ? वह कहेगा तो एक अंश की बात कहेगा। ज्ञानी का निर्णय ऐसा स्पष्ट है अपने आपमें कि प्रतिपादन में चाहे कोई बात न आए, पर निर्णणमें यथार्थ सभी बातें बैठी हैं। यह तो एक वस्तुरूप-की पद्धति है, लेकिन हम अपने हित के लिए उसमें से किसका आलम्बन लें ? यदि आश्रवभावका आलम्बन लेते हैं तो पार इसलिए नहीं पड़ता कि अवलम्बित भाव अध्रुव है, वह अन्यरूप हो जाएगा तो अध्रुव के अवलम्बन से हम अपनेको हितमार्गमें नहीं लगा पाते हैं। वहां तो ध्रुव का आलम्बन लेना है, जो स्वरूपत शाश्वत है उसका आलम्बन लेना है और इसका आलम्बन वह पुरुष ले सकता है, जिसने सब विधियोंका यथार्थ निर्णय किया हो।

भैया ! इससे फलित अर्थ यह निकला कि कल्याण करने वाले पुरुषको पहिले व्यवहारका आलम्बन मिला। पहिले व्यहारका आलम्बन हो, बादमें उसको गौण कर दें, तब निश्चय का आलम्बन बने। इसी कारण यह बताया गया है कि जो प्राथमिक पुरुष है, उनको व्यवहारनय आलम्बनके योग्य है; लेकिन कोई अपनेको मान लें कि हम प्राथमिक नहीं हैं तो यह उनकी अपने आपके लिए धारणा है। प्राथमिक शब्दके भी दो अर्थ हैं। एक तो बहिरात्मा (मोही) और दूसरा अन्तरात्मा। प्राथमिकका यह अर्थ है कि इसकी स्थितियां दो हैं—एक निर्विकल्प की स्थिति और दूसरी विकल्पकी स्थिति। जो विकल्पभावमें रहते हैं, उन्हें प्राथमिक कहते हैं, जो निर्विकल्प स्थितिमें रहते हैं, वे प्राथमिक से ऊपर हैं। अतः ज्ञानी पुरुषके भी इस अर्थ की प्राथमिकता और अप्राथमिकता—ये परिवर्तन करते रहते हैं। जैसे कि ६वें व ७वें गुणस्थानके प्रमत्त और अप्रमत्त दशाका परिणमन होता रहता है। हम व्यवहारका आलम्बन करते हैं। देव, शास्त्र, गुरु आदिकी उपासना करना, यह बस व्यवहार का आलम्बन ही तो है। लेकिन निश्चय का लक्ष्य ज्ञानके छूटता नहीं है, वह तो उसका मुख्य विषय है।

विवर्तोत्तीर्ण अचल चैतन्यकी उपलब्धि—इस ज्ञानीको अपने आपमें सर्वस्थितियोंसे उत्तीर्ण अचल चैतन्यमात्र अपने आपको परखा है और वह तब सत्यात्मस्वरूपमें यों लीन होता है, जैसे कि पानीमें नमक लीन हो जाता है। नमक को समझ लो एक उपयोग और पानी को समझ लो आत्मस्वरूप। जैसे नमक कुछ अलग फटा हुआसा कङ्कडोंकी तरह नहीं रहता है, इसी प्रकार उपयोग आत्मस्वरूपसे अलग फटा हुआसा भेदभाव रखता हुआ नहीं रहता और उसकी स्थिति ऐसे स्वरूपाचरणकी बनती है कि जैसे यों बताया गया है कि ध्यान-ध्याता-ध्येयका विकल्प नहीं, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेयका विकल्प नहीं। वही स्थिति पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी और कृतकृत्यताकी। उस समय विकल्प नहीं रहता कि उस सत्यस्वरूपका ध्यान रखकर खुद ही सत्यात्मस्वरूप होकर निष्काम परिणमन करता है और उस समय यह आत्मा कृतकृत्य हो जाता है।

भैया! अज्ञानोपासकके कृतकृत्यावस्था नहीं होती है। इसे कुछ न कुछ करनेको पड़ा ही रहता है। यदि परका लगाव है तो इसके चित्त में कुछ न कुछ करनेको पड़ा ही रहता है। जहां कुछ न कुछ करनेको पड़ा ही रहता है, उसको शांति नहीं मिलती है। चित्त में विकल्प बना रहे और शांति बनी रहे—ये दो भाव एक साथ नहीं जगते। जब जीवको करनेको कुछ नहीं पड़ा है, तब जीवको कोई विकल्प नहीं करता है। उसे तो जो कुछ करना था कर लिया, जब करने को कुछ शेष नहीं रहा तो शान्ति प्राप्त होती है; इसी को पुरुषार्थसिद्धि कहते हैं। इसमें आत्माके समस्त इष्टोंकी वहां पूर्ति है। दुःख नहीं रहा, किसी प्रकार का क्लेश आकुलता नहीं रही। इस स्थिति से बढ़कर और क्या स्थिति होगी? यह चीज मिलती है अपने आपके स्वरूप के यथार्थ मानसे, ज्ञानसे और इसी रूप अपने आत्मामें रमण करनेसे यह स्थिति प्राप्त होती है।

अचल चैतन्यकी उपलब्धिसे सन्मार्गका अनुसरण—जो जीव भी सिद्ध हुए हैं, उन सबने इसी मार्ग को अपनाया। कोई दूसरा मार्ग नहीं है कि हम आपको सुख-शांति होगी। यह मार्ग हम उन ही जीवोंसे बनता है जिन्होंने वस्तुके स्वरूपको परिचय में लिया है। प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है—'उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'। सभी पदार्थ अपनेही प्रदेशोंमें, अपने ही गुणोंमें, अपनी ही दशाओंमें उत्पादव्ययध्रौव्य किया करते हैं। इसके खिलाफ और कुछ सोचकर निर्णय तो करो कि क्या कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के गुणोंसे परिणमता है या अन्य पदार्थकी परिणतिसे परिणमता है? नहीं। दूसरे रूप परिणमन लगे तो न वह एक रहा और न दूसरा रहा, जगत शून्य हो जाता। अतः पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त हैं।

यहां हमको समझना है कि किसी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थसे कुछ सम्बन्ध नहीं है—न करने का और न भोगनेका। ऐसा विवेक जब चित्तमें बैठता है तो यह ज्ञानी जीव कृतकृत्य होता है। इसके लिए हम अपने आपमें ऐसा अधिकतर अनुभव करते रहें कि मैं सिर्फ चैतन्यमात्र हूं, ज्ञानदर्शनस्वरूप हूँ, ज्ञानका करता हूं; इतना ही तो हमारा कर्तापन है। ज्ञानका ही भोगता हूँ इतना ही हमारा भोक्तापन है। सुखकी अवस्था में भी जिस प्रकारका ज्ञान परिणम रहा है, वह ज्ञान परिणमम रहा है और यही वहां कर्तापन है, यही भोक्तापन है। जब हम दुःख अनुभव करें तो जिस कल्पनामें दुःख का अनुभव होता है, उस ज्ञान का कर रहा हूं, ज्ञान को ही भोग रहा हूं, ज्ञान के सिवाय न कुछ करता हूं, न भोगता हूं। जो विकल्पात्मका अनुभव है, वहां भी विकल्पको ही कर रहे हैं और जो विकल्प है सो ज्ञान है। कोई खोटा ज्ञान होता है, कोई भला। हम अपने आपमें ज्ञानरूप परिणम रहे हैं, अन्य किसी रूप नहीं परिणमते। हम किसी परकी दशारूप नहीं बनते। इस प्रकार का जब भाव होता है तो यह ज्ञानी जीव कृतकृत्य हो जाता है।

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

विभाव और पौद्गलिक कर्मोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध—जीवके किए हुए परिणामको निमित्त-मात्र पाकर पुद्गल स्वयं कर्मरूपसे परिणम जाते हैं। जीव के साथ कोई एक ऐसी चीज जीवके खिलाफ अवश्य लगी हुई है, जिसके कारण यह जीव अपने स्वभावमें न रहकर विरुद्ध रूप परिणम जाता है। स्वयं ही कोई पदार्थ अपने स्वभावके खिलाफ नहीं बन सकता। कोई विरुद्ध चीज लगी हो, तब ही कोई विरुद्ध परिणमन कर सकता है। जीव जिस समय राग-द्वेष-मोह परिणाम करता है, उस समय उन भावोंका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें नामक पुद्गलकर्म स्वयं कर्मरूप परिणम जाते हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरे को परिणमता नहीं नहीं है, बल्कि पदार्थ स्वयं ही अनुकूल निमित्त पाकर अपनी ही शक्ति से विभावरूप परिणम जाते हैं—ऐसी पदार्थ में प्रकृति पड़ी हुई है।

जब आत्मा राग-द्वेष-मोह भावरूप नहीं परिणमता, केवल शुद्ध ज्ञानरूप परिणमता है; उस समय पूर्व बंधे हुए पुद्गलकर्म भी झड़ जाया करते हैं। ये कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक पुण्यरूप और दूसरा पापरूप। जब जीव अपने शुभ भाव करता है, तब तो पुण्यरूप आश्रव होता है और जब जीव अशुभ भाव करता है तो पापरूप आश्रव होता है।

जितने ही उपवास, देवपूजा, गुरुपूजा, विनय आदिके करते समय जितने अंश में रागरहित भाव हैं, उतनी कर्मों की जर्जरता होती है। कोई यह प्रश्न करे कि कर्मोंको जीवके अत्यन्त सूक्ष्म भावों की खबर पड़ती तो है नहीं, फिर जीव किस प्रकार का भाव कर रहा है? हमें उस प्रकार परिणम जाना चाहिये और उनको खबर नहीं होती है तो वे पुद्गलपरमाणु जाने बिना कैसे पुण्य और पापरूप बन जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि जैसे कोई मन्त्र सिद्ध करने वाला पुरुष गुप्त स्थानमें बैठकर किसी मन्त्रका जाप करता है तो केवल मन्त्रशक्ति से दूसरा पुरुष सुखी अथवा दुःखी हो जाता है। अतः उसमें दूसरे का कुछ किया नहीं, मगर ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि उसके उन परिणामोंका निमित्त पाकर कर्म बंध जाते हैं। कर्मोंमें कर्मरूप परिणमने की शक्ति है और जीवके परिणाम इसके निमित्तमात्र हैं। तब जीविका निमित्त पाकर कार्माण स्कन्ध स्वयं कर्मरूप परिणम जाते हैं। यदि कर्मों में कर्मरूप बननेकी सामर्थ्य न हो तो किसी भी निमित्तको पाकर वे कर्मरूप नहीं परिणमते। योग्यता है, अतः उस प्रकार का वे परिणमन कर लेते हैं; न योग्यता हो तो नहीं करते हैं।

भैया! जैसे बालूमें तैलरूप परिणमनेकी शक्ति नहीं है, अतः कोल्हू में उसे कितना ही पेला जाए, वह कभी तैलरूप नहीं परिणम सकता। तिलमें तैल की योग्यता है। अतः इसे कोल्हू में पेलने पर तैल निकलता है। कर्मोंमें कर्मरूप परिणमनेकी योग्यता है, तभी दूसरे निमित्त हैं। इसके लिए और अनेक दृष्टान्त लीजिए—दर्पण में विभिन्नरूप परिणमने की शक्ति है। सामने आये मुंह आदिका निमित्त पाकर यह प्रतिबिम्ब रूप परिणम जाता है। न हो प्रतिबिम्बरूप परिणमनकी शक्ति तो नहीं परिणमता। जैसे भींत, दरी आदिक इनमें प्रतिबिम्बरूप परिणमनकी शक्ति नहीं है तो ये प्रतिबिम्बरूप नहीं परिणमते। जीवमें भी इसी प्रकार रागादिकरूप परिणमनेकी शक्ति होती है। अतः कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव विभावरूप परिणम जाता है।

प्रकृतिका अर्थ—देखो, जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर स्वयं ये पुद्गल नानारूप परिणम जाते हैं। फिर कर्मविपाकका निमित्त पाकर संसारकी नाना प्रकृतियां स्थितियां बन जाती हैं। जैसे सुहावने दृश्यको देखकर लोग कहते हैं कि जंगल देखो, इसमें कैसी प्रकृति है, कैसी कुदरत है? ये कुदरत और प्रकृति क्या हैं? उन जीवोंके परिणामोंका निमित्त पाकर जो कर्म बंधे थे, उनका यह फल है। उन पुद्गलकर्मोंके उदयमें जल बना है, पत्थर बने हैं, फूल बने हैं, फल बने हैं—ये प्राकृतिक दृश्य हैं। उनका निमित्त पाकर वे सब ठाठबाट होते हैं। भावों में भी कुछ ऐसी विचित्र शक्ति है अथवा समझिए ऐसा ही परिणमन है कि जिसका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप में परिणम जाते हैं। कई लोग पाप छुपकर करते हैं कि कोई देख न ले। छुपकर पाप करने से

कहीं कर्म तो न छुप जायेंगे। जो जैसा परिणाम करे, उसका निमित्त पाकर तो कर्म उसी समय बंध जाते हैं। दूसरेके देखनेसे तो पकड़ नहीं है, पर जो कर्म बंधे हैं, उनसे पकड़ है। वे कर्म कहीं छिपे नहीं रहते हैं। लोकमें सर्वत्र जीवके साथ स्वयं कर्मस्कन्ध ऐसे पड़े हैं जो कर्मरूप होनेकी योग्यता रखते हैं।

भैया ! इस प्रकार जीव के कर्मोंका निमित्त पाकर ये पुद्गल कर्मभावसे स्वयं परिणम जाते हैं। यह बात जीवमें है क्या ? जीव अपने चैतन्यस्वरूप रागादिक परिणामोंसे आप ही परिणमते हुए उस आत्मा के भी पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र होते हैं अर्थात् जब जीव रागादिकरूप परिणम रहा है तो उसके ये जो विभाव होते हैं वे जीव के स्वभाव से नहीं हुए किन्तु पौद्गलिक कर्म से हुए। पौद्गलिक कर्म उसके लिए निमित्तमात्र है, जीवमें रागादिक भाव स्वयं नहीं हुआ करते क्योंकि जो उत्पन्न होते हैं वे विभाव हैं। यह निमित्त ज्ञानावरणादिकका समझना चाहिये अर्थात् जैसे-जैसे कर्म उदय अवस्था को प्राप्त होते हैं वैसे ही आत्मा विभाव भावों से परिणमन करता रहता है।

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ।।१३।।

जीवविभावके होनेमें पौद्गलिक कर्मोंका निमित्तत्त्व—कोई पूछे कि पुद्गलमें ऐसी कौनसी शक्ति है जो चैतन्य जैसे परमात्मदेवको भी विभावोंमें परिणमन कराता है अर्थात् यह कारणपरमात्मा तो है ही, उसे भी विभावरूप परिणमन कराता है, ससार अवस्थामें ऐसी पुद्गलमें कौन सी शक्ति है ? समाधान यह है कि जैसे किसी पुरुषपर मंत्र धूल डाली जाय तो वह नाना प्रकार की चेष्टायें करने लगता है। क्यों कि मंत्रके प्रभावसे उसमें ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है कि चतुर पुरुषको भी पागल बना देती है। और यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश दुःखी होने लगता है। ये निमित्तनैमित्तिक भाव हैं। इसी प्रकार यह आत्मा अपने प्रदेशोंमें रागादिकके निमित्तसे बंधरूप है, पुद्गलके निमित्तसे खुदको भूलकर खुद ही यह जीव नानाप्रकार के कर्मबंध में आ जाता है। सारांश यह है कि जीवके विभावों का निमित्त पाकर पुद्गलकर्म कर्मरूप परिणमते और पुद्गल कर्मका निमित्त पाकर जीव विभाव परिणमन कर लेता है। यों जीव और कर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव और कर्म, इन दोनोंमें परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव हैं अर्थात् कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीवके विभाव बनते हैं और जीवके विभावों का निमित्त पाकर कर्म बनते हैं, ऐसा निमित्त होने पर भी केवल एक दूसरे के लिए निमित्त मात्र है, जैसे कोई स्वर्णकी अंगूठीमें लाल रंगका कागज लगा होनेसे वह लाल रंगकी दीखती है। लाल रंगमें दिखने में कारण वह कागज है। कागज निमित्त है पर उस अंगूठीसे वह कागज तन्मय नहीं है। इसी प्रकार समझलो जीव और कर्मका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है लेकिन जीव कर्मसे तन्मय नहीं है और कर्मके भावोंसे भी तन्मय नहीं है। अर्थात् आत्मा न कर्मसे तन्मय है और न रागादिक भावोंसे तन्मय है। परिणमन तो है ऐसा। कागजका परिणमन छायामें निमित्त तो है पर कागज छायावान् नहीं हो गया। वर्तमान क्षणमें दर्पण छायावान् है पर छाया तो वर्तमान मात्र है। कागज उससे तन्मय है जो वर्तमान, भूत, भविष्यमें कभी भी हो, रूप, रस, गंध स्पर्शसे तन्मय है कागज और रूप रस, गंध स्पर्शकी पर्यायसे भी तन्मय नहीं है। कागज स्वयं पर्याय है। ये पुद्गल कागजमय नहीं हैं, इस प्रकार जीव न तो कर्मरूप है, न कर्मकृत भावरूप, लेकिन जो अज्ञानी जीव हैं उनको यह संयुक्त शरीरका दिखता है। और चल रहे हैं रागादिक विभाव परिणमन। लेकिन यह चलना भी अज्ञानीमें चल रहा है। ये रागादिक भाव यद्यपि आत्मामें तन्मय नहीं हैं तो भी इनका भेद विज्ञान नहीं है। इन मूढ़ जीवोंके अबुद्धोंका इस प्रकारका जो आशय है वह आशय संसार का स्वरूप है। रागद्वेषादिक होना यही तो संसारका फल है। अब और भी सुनिये। स्वर्णमें लाल रंगके कागजकी वजह से जो लालिमा प्रतीत होती है वह लालिमा औपाधिकरूपसे परिणमी है। उस कागजमें से निकलकर

वह लालिमा नहीं आयी है। वह लालिमा औपाधिक है। जैसे लाल रंग का कागज आड़े आनेपर वह लाल मालूम होती है, इसी प्रकार चैतन्यमात्र आत्मतत्वमें कर्मों का उदय आता है, यहां पर भी रागादिक भाव झलक जाते हैं।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

अज्ञानियोंके आभासको भवबीजरूपता—आत्मा विभावकालमें रागादिक भावोंसे यद्यपि तन्मय है, लेकिन जो उसको आत्मस्वरूप समझता है वह अज्ञानी है। रागद्वेष मोहरूप तो विभाव होते हैं, वे तो संसारके बंधनके कारण होते हैं। ये जो सुख दुःख आदिके भाव होते हैं ये बंधन के कारण भूत नहीं हैं। इन सुख दुःख आदिके प्रति जो रागभाव लगा है वह ससार-बंधनका का कारण है। प्राय: करके सभी सुखोंमें राग लगा है। यह रागभाव ही संसार-बधनका बीजभूत है। यह रागभाव ससार-बंधनकी परम्परा बढ़ाता है। पढ़े लिखे वेष में भी जिस समय इस अज्ञानी जीवको यह राग लग जाता है कि रागादिक भाव कर्मके हैं, उनसे मेरा क्या मतलब? होने दो. ऐसा मानकर जो स्वच्छ होनेमें रोक लगती हैं उसको तो समझाना पड़ता है। कर्म तो निमित्त मात्र है, भाव जीवके हुए और इसी कारण जीवको भोगना पड़ता है और जब कभी यह रोक लग जाती है कि ये भाव तो मेरे ही हैं तब उसे औषधि देनी होती है कि 'ये भाव जीवके नहीं हैं, ये कर्मकृत हैं। अब इन दोनों में यथार्थता क्या रही? यथार्थता रही वह जिस प्रयोजनके लिये ये दोनों दवाईयां देनी पड़ीं अर्थात् सर्वविविक्त केवल ज्ञानमात्र आत्माको समझना यह तब है सुगम, किन्तु रागवासनावासित जीवोंको दुर्धर है। रागादिक भाव चैतन्यके परिणमन हैं इसलिये रागादिकका कर्ता जीव है। परन्तु एक मूलभूत जीवके शुद्ध परिणमनका श्रद्धान करानेके लिये यों कहा जाता है कि रागादिक भाव कर्मकृत हैं, जीव के नहीं। आशय क्या है कि सबसे निराले केवल ज्ञानस्वरूपमें अनुभव, ज्ञान को ही करता हूं ज्ञान को ही भोगता हूं, इसके सिवाय न अन्य कुछ करता हूं और न अन्य कुछ भोगता हूं अथवा न करता हूं. न भोगता हूँ किन्तु जानता रहता हूं, सो भी मैं किसीको नहीं जानता हूं, अपने को ही जानता हूं, अपनेका अपने लिये अपनेमें जानता हूं अथवा मैं जानता ही नहीं हूं, किन्तु एक यह ज्ञानमात्र भाव है। इसी प्रकार क्रमश: भावोंसे हट हटकर आनन्दनिधान केवल एक चैतन्यस्वरूपमें की दृष्टि होना, सो यह आत्महित है, इसीमें कल्याण है, धर्मपालन भी इसीमें है।

भवबीजाभावसे अभवदशा पानेका चिन्तन—हम किस प्रकार बाह्यपदार्थोंसे, परभावोंसे हटकर अपने इस शुद्ध स्वरूपकी ओर आयें और ऐसी ही अपनी पात्रता बनानेके लिये दो प्रकार के धर्ममार्ग बनायें—एक गृहस्थमार्ग और एक साधुमार्ग। प्रयोजन दोनोंका एक है, पर बाह्यक्रियाओंमें अन्तर है। साधुधर्म पालन है तो उसका भी यही प्रयोजन है कि मैं सबसे निराले केवल ज्ञानमात्र स्वभावको अपने उपयोग मे ले सकूं, यही तो साधु-धर्म का उद्देश्य है और गृहस्थधर्म का भी उद्देश्य यही है और उसके साथ इतना संशोधन लगा है कि मैं चिरकाल तक तो ज्ञानस्वभाव में ठहर नहीं सकता इस स्थितिमें लेकिन इसका भी पात्र मैं न रहूं, ऐसी मेरी दुराचाररूप प्रवृत्ति तो नहीं होती। पात्रता तो मेरी बनी रहे, इस संशोधनके लिये गृहस्थने गृहस्थधर्म अपनाया और पात्रताके के साथ कभी-कभी वह अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर आता भी है।

अब दूसरा दृष्टान्त लें जैसे किसीको अवग्रहीत हो जाये, पिशाच लग जाये, यह स्वयं अपनेको पिशाचरूप समझ ले, स्वयं वैसा मान ले, उस समय जो उसकी चेष्टायें होती हैं वे चेष्टायें उस मनुष्यके मूलभूत नहीं हैं। ऐसे ही हमारे पर जितनी बातें बीतती हैं वे सब कर्मोदयसे होती हैं, मेरे स्वभावसे नहीं, इस प्रकारका निर्णय करके अपने स्वभावमें लीन होना सो पुरुषार्थ की सिद्धि प्राप्त करनेका उपाय है। यह एक प्रयोजनकी सिद्धि करने वाला उपाय है। सबसे निराला ज्ञानमात्र जो आनन्दभावसे भरा हुआ है ऐसे ज्ञानस्वरूप को अपनी दृष्टिमें लेना सो मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है। संसारका बीजभूत रागभाव है और मोक्ष का बीजभूत है सर्वसे विविक्त,

कर्मोंसे न्यारा, रागादिकसे भी न्यारा केवल ज्ञानमात्र मैं हूँ, इस प्रकार का आशय है । संसारमें फंसना संसारसे छुटकारा पाना—ये दोनों बातें एक आशय पर निर्भर हैं, कहीं बाहरमें कुछ व्यायाम नहीं करना है ।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्यनिजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एक पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५॥

पुरुषार्थसिद्धिके उपायोंमें प्रथम रत्न सम्यग्दर्शन—आत्मा के वास्तविक प्रयोजन की सिद्धि कराने वाला उपाय क्या है, वह इस ग्रन्थ में बताया है । विपरीत अभिप्राय को दूर करके, आत्मतत्त्वका निश्चय करके उस आत्मस्वरूपसे चलित न होगा, बस यही पुरुषार्थसिद्धिका उपाय है । एक बात में बताया है, इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र—ये तीनों आ गए । विपरीत अभिप्रायको दूर करके—इतना हिस्सा है सम्यग्दर्शन; उसमें तत्त्वका विनिश्चय करके—इतना हिस्सा है सम्यग्ज्ञान और जो आत्मस्वरूप से चलित न हो—इतना हिस्सा है सम्यक्चारित्र—यही पुरुषार्थसिद्धिका उपाय है । विपरीत श्रद्धान क्या है ? जो आत्मतत्त्व नहीं है उसको आत्मतत्त्वरूपसे मानना, यही है विपरीत श्रद्धान । एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी तक पंचेन्द्रिय तकके अभिप्रायमें यह विपरीत श्रद्धान है ।

धन, मकान आदिक जो भिन्न चीजें हैं उनको अपनाना, यह विभिन्न आशय है । देह भिन्न चीज है उसे आत्मा मानना, यह विपरीत आशय है । रागभावको अपनाना, यही मिथ्यादर्शन है । एकेन्द्रिय भी यही करते हैं और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भी यही करते हैं । एकेन्द्रियके चूंकि एक ही स्पर्शनेन्द्रिय है, फिर भी इतनी ही योग्यतासे अपने आपमें विपरीत अभिप्राय का सेवन करते हैं । देहको यह मैं हूं, ये सब कुछ हैं, इस प्रकारका आशय होना एकेन्द्रियके भी पाया जाता है । वह इतनी मूर्छित दशा है कि सुनने में कुछ अटपटासा लगता है कि ये जो पेड़ वो शरीर मैं हूं—ऐसा मानते हैं क्या ? इस प्रकार का मानना तो मनसे होता है । चूंकि इनके मन नहीं है. सो ये कैसे इस प्रकार का आशय बना सकते हैं ? पर आशय उनके भी ऐसा ही पड़ा हुआ है । ये खाते-पीते हैं आसक्त होकर बहुत-बहुत । ऐसे ही ये एकेन्द्रिय भी अपने आहार में स्वाद मानते हैं । जड़ोंसे मिट्टी, पानी आदि अपना आहार खींचते हैं, बहुत-बहुत आहार खींचते हैं, तब वे हरे-भरे रहते हैं । देहमें अपनापन है । यह विपरीत आशय एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक सबके रहता है । उस आशय का बिनाश हो, तब मोक्षमार्ग का उपाय मिलता है । इस विपरीत आशय को संक्षेपमें इन शब्दोंसे कह सकते हैं कि कर्मजनित पर्यायोंको आत्मा मान लेना, इसे विपरीत श्रद्धान कहते हैं । कर्मजनित पर्याय जैसे मनुष्यके मनुष्य पर्याय है, एकेन्द्रियके वनस्पति आदिक पर्याय हैं । मनुष्य शरीर में अपना मानते हैं ऐसे ही एकेन्द्रिय भी शरीरको आपा मानकर मूर्छित रहते हैं । तो विपरीत श्रद्धानको समूल नष्ट करनेहीको सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—विपरीत अभिप्रायको दूर करें और सर्वपरभावोंसे भिन्न ज्ञानमात्र जो एक आत्माका अन्तस्तत्त्व है उसका ज्ञान करें वह है सम्यग्ज्ञान । यद्यपि ठीक-ठीक ज्ञान सम्यग्दर्शन से पहिले होता है । यदि न हो ठीक ज्ञान तो सम्यग्दर्शन हो कैसे ? जब कुछ निश्चय हो, निर्णय हो कि आत्मा यह है, पुद्गल यह है, तब उसके आधार पर उसका श्रद्धान बने और सम्यग्दर्शन हो । एक दृष्टि से ऐसा होता है कि सच्चा ज्ञान पहिले हो, तब सच्चा श्रद्धान हो सकता है; लेकिन वह ज्ञान सच्चा है, फिर भी सम्यक् नाम नहीं पाता । जैसे बाहुबलिस्वामीके दर्शन करने जा रहे हैं यात्री लोग । बाहुबलिकी मूर्ति जिन्होंने नहीं देखी है, सिर्फ सुन रखा है अथवा पुस्तकों में पढ़ रखा है कि प्रतिमा ऐसी है, हाथ-पैरकी अंगुलियां इतनी लम्बी चौड़ी हैं । ५७ फिट ऊंची है । एक पहाड़ पर है । इतना जान लेने पर भी उतना विशद ज्ञान नहीं हो पाता, जो आँखों से देख लेने पर होता है । एक हुआ सम्यग्दर्शन से होने वाला ज्ञान और एक हुआ सम्यग्दर्शनके अनन्तर होने वाला ज्ञान । सच्चा ज्ञान होकर भी सम्यक् नाम नहीं पाता है । सम्यग्दर्शन पहिले, उस ज्ञान से पहिले कुछ

समझा कि मैं आत्मा हूँ; रूप हूं, रस, गंध स्पर्श से रहित हूं; केवल ज्ञानमात्र अमूर्त हूं । जिसके बारे में हमने बहुत-बहुत समझा है, वह चीज है अब यह ऐसा जो निश्चय है, उसका नाम है सम्यग्ज्ञान । विपरीत अभिप्रायको दूर करके और निजतत्त्वका भली प्रकार निश्चय करके फिर जो आत्मस्वरूपसे चलित नहीं होना है, यही है पुरुषार्थसिद्धिका उपाय । यह आत्मा ज्ञाताद्रष्टा है । अब अपने आप उसके उपयोगसे ऐसी स्थिति बने कि इस उपयोगमें मात्र ज्ञानज्योति आये और यह केवल जाननहार रहे, अन्य विकल्प न उठें, ऐसी स्थिति बने उसका नाम है सम्यक्-चारित्र ।

मोक्षमार्गकी आन्तरिकता—इस श्लोकमें तीन बातोंका लक्षण किया है, वे बहुत विशेषता की हैं । जीव, अजीव, आस्रव आदि ७ बातोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है ऐसा बताया है । ७ बातोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शनका कारण है । किसी विधिरूपमें नहीं बताया जा सकता कि सम्यक्त्व है क्या ? इसी कारण ग्रन्थकारोंने इसे अनिर्वचनीय कहा है । यह शब्दोंसे नहीं कहा जा सकता कि सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? परद्रव्योंसे भिन्न आत्मतत्त्व की रुचि करना, सो सम्यग्दर्शन है । अच्छी जगह रुचि हो तो क्या, खोटी जगह रुचि हो तो क्या ? कोई कहे कि आत्मा की प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है, आत्माका अनुभव करना सम्यग्दर्शन है तो अनुभवन भी ज्ञानका कार्य है । कौनसा शब्द आप कहेंगे, जिससे विविधरूप देखा जा सके कि इसका नाम सम्यग्दर्शन है ? विपरीत अभिप्राय चलता आया था, उसका दूर करना इसका नाम सम्यग्दर्शन है, विपरीत अभिप्राय से दूर हो जाना । मिथ्यादर्शन को तो हम विपरीतरूप समझ सकते हैं, क्योंकि वह औपाधिक भाव है । विधिरूप से उसका वर्णन कर सकते हैं । परभावों को अपनाना यही है मिथ्या-दर्शन । अब उसकी अपेक्षा लेकर यह भी कहते हैं कि परभावोंका अपनाना न रहे वह है सम्यग्दर्शन । इस प्रकार के लक्षणमें एक कामके लिए उत्पादव्ययध्रौव्य इन तीनकी झलक आती है । इस प्रकार विपरीत अभिप्रायको दूर करके आत्मतत्त्वका विनिश्चय करके आत्मतत्त्वसे चलित न होना, यही है पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय । अब इस दृष्टि से निरखिये—वर्तमानका राष्ट्रध्वज । उसमें तीन रंग हैं—हरा, लाल और सफेद । लाल रंग तो व्ययका सूचक है अर्थात् विपरीत अभिप्राय यहाँ से खत्म हो गया और हरा रंग उत्पादका सूचक है कि देखो आत्मामें अब निजतत्त्वका विनिश्चय हुआ है और सफेद रंग स्थिरताका सूचक है और यह स्थिरता आत्मस्वरूप में लीन होना यह ध्रौव्यता का सूचक है । यों यह राष्ट्रध्वज फहराकर यह बताता है कि विपरीत श्रद्धानको दूर करके आत्मतत्त्वसे फिर चलित न होना—ऐसी स्वच्छ दशाका नाम है मोक्षमार्ग ।

अनुसरतां पदमेतत्करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्ति ॥१६॥

साधुओंकी उदासीनताका भाव—इस रत्नत्रयरूप पदवीका जो अनुशरण करते हैं ऐसे महामुनियोंकी वृत्ति अलौकिक होती है; क्योंकि वे परद्रव्योंसे सर्वथा उदासीन हैं, परद्रव्यों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । हम ही स्नेह बढ़ाकर उनका सम्बन्ध मानते हैं, पर वस्तुत: किसी भी पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ से रंच भी सम्बन्ध नहीं । सभी पदार्थ अपने-अपने इकहरे स्वरूप को लिए हुए हैं—ऐसा निर्णय है इन ज्ञानी जीवोंके और उसी आधार पर यह दृढ़ निश्चय है कि मेरा पर बिगाड़ किसी भी पर पदार्थके परिणमनसे नहीं होता । यह है उनकी उदासीनता का आ जाना । उदासीन शब्दका अर्थ है कि जो उत्कृष्ट पद में बैठ गए हों । इस उदासीन शब्दका अर्थ मर्म जाने बिना लोकरूढ़ि में यों हो गया । कोई दु:खी हो गया, चित्त उदास है तो कहते हैं कि इसका चित्त उदास है । यह रूढ़ि क्यों हो गई ? इसका कारण यह हो सकता है कि अज्ञानी जनोंने उदासीन पुरुषोंको बेकार देखा, हँसते हुए नहीं देखा तो उनकी दृष्टिमें वे बेचारे के रूपमें देखे गये, तब उदासीन शब्द का यों ही अर्थ लोगों की समझमें आया कि जिनको कोई सुखसे रहने का ढंग नहीं रहा, वे उदासीन हो गए, पर उदासीन शब्दका

अर्थ भला है। जो उत्कृष्ट पदमें आसीन हो उसे उदासीन कहते हैं। ये मुनि चूंकि परद्रव्योंसे हटकर उदासीन रहते हैं, इसलिये उनकी अलौकिक वृत्ति है। लौकिकजन पापकार्य वाली अपनी प्रवृत्तिमें आसक्त रहते हैं, परन्तु मुनिजन पापकार्योंसे सर्वथा दूर रहते हैं। लौकिक जन लोकमें रुचि करके, मोह करके विषयोंके साधन पाकर विषयोंको भोगकर खुश होते हैं, उनमें आनन्द मानते हैं; किन्तु मुनिजन उचित साधनोंके प्रसंगमें भी आनन्द नहीं मानते, बल्कि उन्हें वे एक आफतसी समझते हैं। मानों क्षुधापूर्तिका ही एक काम है तो मुनिजन आहार करते जरूर हैं, पर उसे एक आफत समझते हैं।

गृहस्थोंकीवृत्तिसे साधुवोंकी वृत्तिकी विलक्षणता—मुनियोंकी वृत्ति गृहस्थसे अलग है। गृहस्थजनोंका व लौकिकजनोंका परद्रव्योंमें फंसाव है, पर मुनिजन एकान्तरूपसे परद्रव्यों विरक्त रहा करते हैं। ऐसी विलक्षण वृत्ति इन साधुजनोंकी होती है। और फिर ऊपरी बातें देखो तो वे भी बड़ी विलक्षण मालूम होती हैं। लौकिक जन अच्छा महल बनाकर महलके भीतर बसते हैं, पर मुनिजन पहाड़ोंमें, जंगलोंमें बसते हैं। लौकिकजन साबुन लगा-लगाकर स्नान करते हैं, एक दिनका भी मैल नहीं सह सकते; किन्तु साधुजन कभी स्नान ही नहीं करते। उनके कितना ही मैल लगा होता है, पर उन्हें उसकी कुछ परवाह नहीं रहती। तो यह उनकी अलौकिकवृत्ति ही तो है। लौकिकजन पाटला बिछाकर बड़ी मुद्रासे सुखीमनसे अनेक बार भोजन करते हैं, किन्तु साधुजन एक बार ही खड़े-खड़े भोजन करते हैं। ये सब विभिन्नतायें क्यों हुई ? इनको परद्रव्योंसे सर्वथा उदासीनता है और आत्मस्वरूपमें आकर्षण है। वे स्नान नहीं करते, उसका कारण यही है कि उनके शृंगार करनेका भाव ही नहीं है, शरीरको बहुत स्वच्छ रखनेका परिणाम ही नहीं है। स्नान करने पर वह जल बहेगा तो किसी जीवको बाधा हो सकती है, ऐसी उनके परमकरुणा है। तो उन साधुजनोंके लक्ष्य न्यारे हैं। वे परद्रव्योंसे सर्वथा उदासीन हैं। अतः उनकी वृत्ति लौकिकजनों से बिल्कुल विपरीत हुआ करती है। इन्हीं शब्दोंको संक्षेपमें यों कहें कि गृहस्थजनोंका आचरण पापकार्योंसे मिला हुआ है और महामुनि पापकार्योंसे सर्वथा दूर हैं। यही कारण है कि मुनिजन सर्वथा आत्मस्वभावका अनुभवन स्थिरतासे बहुत समय तक उत्पन्न कर सकते हैं। यह सब प्रताप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उपासनासे प्रकट होता है।

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयाऽनेन बीजेन ॥१७॥

ग्रन्थमें एकदेशविरतिकी वर्णनीयता—इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थमें मुख्यतासे गृहस्थोंके चारित्रका वर्णन है। तो गृहस्थोंका चारित्र बतानेसे पहिले उत्कृष्ट चारित्रका संकेत करना यही सम्यक्पद्धति है। इस कारण इन दो श्लोकोंमें मुनियोंका चारित्र पहिले बताया है। अब उस चारित्रका वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि यह जो समस्त पापोंसे रहित मुनियोंकी वृत्ति बतायी गई है, करनी तो यह चाहिये। सर्वप्रकार के आरम्भोंको तजकर ज्ञानस्वरूपमें लीन होना चाहिये, पर जो ऐसा नहीं कर सकते उनके लिये एक देशविरतिका चारित्र बताते हैं। वे एक देशविरतिका चारित्र क्यों बताते हैं ? जो उत्कृष्ट चीज है, उसीका क्यों नहीं वर्णन कर रहे हैं ? श्रावकके आचरणको बतानेकी क्या जरूरत है ? उसका हेतु अगली गाथामें आचार्यदेव स्वयं कह रहे हैं।

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥

गृहस्थधर्म कहनेसे पहिले साधुधर्म कहनेकी युक्त पद्धति—चाहिए तो यह कि जो लोगोंसे निभसके, ऐसी चर्याका वर्णन करना चाहिए। बहुत ऊंची बात कहे तो उससे प्रजाजनोंको लाभ नहीं होता, सो यहां

शंका यह की जा सकती है कि श्रावकोंका वर्णन पहिले से क्यों नहीं कह दिया, पहिले मुनियोंका क्यों कहा? ऐसा बतानेसे क्या लाभ है? पहिलेसे मुनिधर्मको न कहते हुए गृहस्थ धर्मको कह देना चाहिए, पर ऐसा क्यों नहीं कर रहे? उसका उत्तर दे रहे हैं कि जो पुरुष पहिले मुनिधर्मको न कह सकें, श्रावकोके ही धर्मका पहिले उपदेश दें तो भगवानके विधानमें वे दण्ड देने योग्य कहे गये हैं। श्रावकोका आचार बतावें तो उनमे मुनियोंके व्रतका संकेत और कर देना चाहिए क्योंकि कोई मनुष्य मुनियोंके चारित्रको सुनकर वैसा परिणाम करले तो उसका भला हो। मुनियोंका चारित्र पहिले बतावें नहीं, गृहस्थोंका बतावे, तो गृहस्थ वहीं रम जायेगा, ऊंचे न उठ सकेगा। चाहे यह बात अटपटी लग रही हो कि मुनियों की बात सुनकर कोई मुनि बन जाय। कोई मुनि हो अथवा न हो लेकिन जैन शासनमें प्रवचन करनेकी जो विधि चारित्रके सम्बन्धमें बतायी गई है वह विधि यही है कि पहिले मुनिधर्मका उपदेश करें, बाद में गृहस्थ धर्मका उपदेश करें। जो ऐसा नहीं करते वे दण्ड देने योग्य हैं। इतना ही कह देना उनके लिए एक बहुत बड़ा दण्ड हो गया। किसी विद्वानसे कह दिया कि यह शास्त्र पढ़ने योग्य नहीं हैं तो इतना कह देना ही उसके लिए बहुत बड़ी दण्डकी बात है और जो मूढ़ है उसके लिए तो कारागारका दण्ड हो तो वह भी बड़ा नहीं है। एक कथानक है कि एक अपराध तीन पुरुषोंने किया और जब राजाके यहां न्याय हुआ तो एक को तो यह दण्ड दिया गया कि धिक्कार है तुम्हारे कामको, इतना भर बोल दिया। एक को यह दण्ड दिया गया कि दिन भर तुम इस अदालतमें खड़े रहो। तीसरे को यह दण्ड दिया गया कि मुंह काला करके गधे पर बैठाकर नगरका चक्कर लगवावो। यों तीनों को तीन प्रकारका दण्ड दिया गया। जिसे यह कहा गया कि धिक्कार है तुम्हारे कामको वह किसी गुप्त स्थानमें जाकर अपने प्राण त्याग देता है, और जिसे अदालतमें खड़ा रहने को कहा गया वह भी खड़ा होनेके बाद दिलकी बीमारी लग जानेसे कुछ ही दिनमें चल बसा और जिसे मुंह काला करके गधेपर बैठाकर नगरमें घुमानेका दण्ड दिया गया वह गधे पर बैठा नगरमें चला जा रहा था, जब उसका घर पड़ा तो उसकी स्त्री द्वार पर खड़ी थी उससे कहता है कि पानी गरम करके रखना, थोड़ा चक्कर लगानेको और बाकी रह गया है। तो देखो उस पुरुषके लिए इतना बड़ा दण्ड भी न कुछ है। ऐसे ही समझो कि समझदारोंको इतना ही कह देना काफी है कि जो पहिले मुनिके चारित्रकी बात न कहे, श्रावकोंके चारित्रकी ही बात कहे वह भगवान के विधानमें दण्ड देने के योग्य कहा गया है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय बताया है।

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽति दूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

यतिधर्मके वर्णनसे पहिले गृहस्थधर्म कहनेसे हानि—जगतमें जितने भी जीव हैं वे सब सुख चाहते हैं और दुःखसे दूर रहना चाहते हैं, परन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी कोई प्राणी आज तक तृप्त नहीं हो सका। बहुत-बहुत धन कमाया, मकान बनवाया, नामवरी की चाह की, कोशिश की, पर आज तक यह प्राणी संतुष्ट नहीं हो सका। जिस पर्यायमें जो योग्यता है उसके अनुसार सब प्रयत्न कर डाले, पर आज भी अशान्ति की ज्वालामें जलता भुनता यह जीव नजर आ रहा है। चाहे कोई अच्छे भेषमें दिखता हो, खुशहाल दीखता हो पर वास्तवमें वह भी अत्यन्त अशान्त है। अरे इन बाह्यपदार्थोंका संचय करके संतोष न मिलेगा, तृप्ति न मिलेगी। तृप्ति तो आत्मामें आत्माके रससे ही मिलती है। एक चैतन्य-रसका जहां केवल जानन है। किसी भी पदार्थमें रागकी मात्रा न रहे, केवल देखन जाननहार रहे, ऐसी स्थितिमें वह चैतन्यरस उमड़ता है और इतने वेगसे उमड़ता है कि इस आत्माको तृप्त कर देता है। आप लोग तीर्थक्षेत्र की वंदना करनेमें इतना कष्ट अनुभव करते हैं, पर जो लोग यहां पर रहते होंगे, कामवश बारबार आते जाते हों तो उनका क्या हाल होगा,

या जिन मुनिराजों ने ऐसे स्थान पर आकर घोर तपश्चरण किया होगा उनका क्या हाल रहा होगा ? जरा आप सोचें तो सही कि उन मुनिराजोंको यहां पर कौनसा रस मिल रहा था जिससे वे इतने तृप्त थे कि घर नहीं गए ? अरे वे भी हम आपकी ही तरह से घरमें पले हुए थे पर यहां आकर वे ऐसे आनन्दरससे तृप्त रहे थे कि उस स्थानको छोड़ने का उनका भाव नहीं हुआ। परद्रव्योंसे उन्हें उपेक्षा हो गयी थी, उन्होंने अपने उपयोगको परपदार्थोंमें नहीं फंसाया। वे तो अपने आपमें ही अपने उपयोगको लगाकर ऐसा तृप्त रहते थे कि जिसे शब्दों द्वारा कैसे कहा जाए ? यहां पर तप्तायमान् शिला भी उन्हें शीतवत् प्रतीत होती थी। यहां तो मनके होर से अपन सबको यह कष्टरूप मालूम पड़ता है। आप सब इतने से कष्टको बड़ा कष्ट मान रहे हैं, पर आप अंदाज लगा सकते हैं कि कितने कितने तपश्चरणोंमें वे साधुजन रहा करते थे ? उन्होंने एक ऐसी बूटी पी ली थी कि वे अपने आपके आत्मामें ही निरन्तर बसते थे। उन्हें किसी दूसरेकी परवाह न थी, कहीं किसी को खुश करनेका भाव न था, वे सब के ज्ञाताद्रष्टा रहते थे। वे सर्वदा आनन्दरससे तृप्त रहा करते थे। हम आज भी यही भावना भावें और वैसी ही अपनी दृष्टि बनायें।·हम आपको भी वही काम करना है।

गार्हस्थ्यकी रुचिकी अनर्थरूपता—भैया ! घर ग्रहस्थी बाहरी वैभव सम्पदा इनमें बने रहने से आखिर अन्तमें मिलेगा क्या ? मरणकाल आयेगा, जीवको यहाँसे अकेला जाना पड़ेगा। तो जैसे अनेक लोग कहते हैं कि जैसी जो करनी करता है, उस करनीके अनुसार उसे दण्ड मिलता है। तो पुरुषार्थसिद्धिके उपायमें अर्थात् आत्माको इस परमइष्टकी सिद्धि कैसे हो, इस उपायमें आचार्यदेव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी बात बताते हैं। मिथ्या आशयक परिहार करना सो सम्यग्दर्शन है। इन मिथ्या आशयोंका परिहार हो और इस आत्मतत्त्वका भली प्रकार निश्चय करके अपने आपमें लीन होने का भाव बने, यह काम हम आप सबको करना है। हम आपको इन कामोंमें यदि बाधा न दे तो वह पत्नी एक धर्मपत्नी है, ऐसा ही बंधु धर्मबन्धु है और जो कोई भी हम आपको इस काममें बाधा डाले, रागद्वेष मोह ममतामें बढ़ानेकी बात बताये वह धर्मबन्धु नहीं है। कोई भी परिजन मित्रजन जो आत्मोन्नतिमें सहायक हैं वे धर्मबन्धु हैं और जो आत्मअवनतिमें ले जायें व धर्मबन्धु नहीं हैं। एक निर्णय रखिये कि इस मोह ममतासे कुछ भी लाभ नहीं है। घर ग्रहस्थीमें रहना पड़ता है, रहें, पर उदास वृत्तिसे रहें, धन वैभव सम्पदा मिली है तो उसे उदास वृत्तिसे भोगें। साधुजन तो निर्ग्रन्थ दशामें रहा करते हैं। उन्हें तो किसीसे किसी भी चीजकी चाह ही नहीं है। उन्हें तो एक आत्मीय आनन्दरसका ऐसा स्वाद मिल गया है कि उसे पीकर वे तृप्त रहा करते हैं और उसीमें आनन्द मानते हैं।

मुनिधर्म और अन्तर्वृत्तिकी प्रधानता—आचार्यदेव जब उपदेश देते हैं तो सबसे पहिले सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका देते हैं, और उपदेशमें सबसे पहिले मुनिधर्मकी बात कहते हैं। जो शिष्य उस मुनिधर्मका पालन करने में समर्थ नहीं है, वह श्रावक धर्म पाले। श्रावकधर्मका उपदेश पहिले मिल जाने पर वह उतनेसे ही संतुष्ट हो सकता है और मोक्षमार्गमें आगे बढ़नेकी कदम वह नहीं उठा सकता है, इसलिए सबसे पहिले मुनिधर्मकी बात बताते हैं। इस तीर्थक्षेत्रमें इस पर्वतमें आकर आपको मिला क्या ? केवल एक फुट की मूर्ति ही तो मिली। अरे इससे भी बड़ी-बड़ी अनेक जगह और भी तो मूर्तियां हैं, उन्हींके दर्शन आप लोगोंने क्यों नहीं कर लिये ? यहां दर्शन करने क्यों आये ? अरे उस मूर्तिके दर्शन करने नहीं आये, दर्शन उस स्थानके करने आये हैं जहांसे वे मुनिजन मोक्ष सिधारे। दर्शन करनेमें मुख्य लाभकी बात यह है कि उस स्थान के दर्शन हुए जिस स्थानमें कुछ समय बसकर वे मुनिराज मुक्त हुए। उस स्थान को देखते हैं कि कौनसा स्थान उन मुनिराजोंने पसन्द किया था, जिनमें रहकर वे आनन्दरसमें तृप्त रहा करते थे। आपने देखकर अन्दाज भी किया होगा कि कितना तुच्छ किस प्रकार का स्थान है ऐसे स्थानोंमें मुनिजन तपश्चरण करते थे, घर द्वार नौकर चाकर वस्त्रादिक का रख... आये थे, अपने साथ खाने-पीनेको भी न लाये थे। कुछ समयके लिए उन्होंने अपना टिकाव बनाया था

और आन्तरिक तत्त्वकी उपासना करके उन्होंने अपने आत्माकी थी। यों समझिये कि जैसे कोई पुरुष किसी गांवमें अनेक लोगोंसे कुटता-पिटता हो, गालियां सहता हो, बहुतसे लोगों से अनबन हो गई हो तो अपना घर छोड़कर परदेश चला जाता है। यों ही समझिये कि उन साधुजनोंसे घरमें, परिवारमें बात नहीं पटी, उनका दृष्टिकोण दूसरा था, परिजनों का दृष्टिकोण दूसरा था। वे अपने को परिजनों से बहुत कुटा-पिटा समझते थे। जिससे हैरान होकर सर्व कुछ त्यागकर निर्ग्रंथ दीक्षा धारण की थी। उन्होंने यह भी विचार नहीं किया था कि ऐसे स्थान पर कलको खानेको कौन लावेगा ? ऐसे स्थान पर सिंहादिक क्रूर जानवर भी तो बस रहे होंगे, ऐसे स्थान पर कोई नौकर भी तो साथ नहीं है, यह कुछ भी उन मुनिराजोंने न सोचा था। उन्हें तो एक आत्मीय आनन्दरसका स्वाद मिल चुका था, जिसके आगे दुनियाके सारे रस फीके प्रतीत हो रहे थे।

मुनिव्रतमें आत्महितकी साधना—अरे, एक भवका मौजका साधन बना लेने से इस जीवका पूरा क्या पड़ता है ? एक ऊंची किसी जगह पर पहुंच गए और इसी जीवनमें फिर निर्धन हो गए, मरकर कीट आदिक हो गये तो क्या तत्त्व निकला ? ज्ञानरस पाये तो उससे तो इस आत्माकी रक्षा है। मूर्छा से तो इस आत्माकी रक्षा नहीं है। आचार्यदेव उपाय तो एक ही साक्षात् सर्वप्रथम बताते हैं। मुनिधर्म अंगीकार करें और समस्त परिग्रहोंका परित्याग करें। आगे-पीछे गुजारनेकी बात-चीतमें न लावें। जो होगा सो होगा, ऐसी तैयारी के साथ जिन साधु-सन्तों ने अपने आत्माका चिन्तन किया, आनन्दरस पाया, वे महापुरुष परमधामको प्राप्त हुए और और हम आप सभी एकरस होकर एक ढंग से उनकी बन्दना और उपासना में लगते हैं। तो पहिले आचार्य देव मुनिधर्मका व्याख्यान करते हैं, फिर श्रावकधर्मका व्याख्यान करते हैं। सबसे पहिले गृहस्थधर्मका यदि उपदेश कर दिया जाये कि यों खाना, यों कमाना आदि तो श्रावक धर्ममें ही कोई शिष्य संतुष्ट रह सकता है और मुनिधर्म न अंगीकार करके आत्महित से वंचित रह सकता है। इस कारण जैनशासन में आदेश है कि किसीको कुछ बताना है तो पहिले ऊंची बात बतावे। देखिये तीर्थबन्दना में कितना कष्ट होता है, लेकिन उन साधु-संतों के तपश्चरणका विचार करने से यह कष्ट हल्का हो जाता है। और अगर घर जैसा आराम यहाँ सोचो तो इस प्रकारका एक छोटा-सा भी कष्ट पहाड़ जैसा प्रतीत होता है। तो पहिले बड़ी बात को बताकर फिर छोटी बात बतानी चाहिये। पहिले मुनिधर्मका उपदेश करते हैं, बादमें श्रावकधर्मका उपदेश करते हैं। सभी धर्मों में चाहे मुनिधर्म हो, चाहे श्रावकधर्म हो तत्त्व की बात इतनी ही है कि जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका तत्व है, उससे तो आत्माकी रक्षा है और बाह्यपदार्थोंमें यदि उपयोग है तो उससे मिलना-जुलना कुछ नहीं है; किन्तु अत्यन्त असार की बात है। उसमें इस समय भी कष्ट सहा और भव-भव में कष्ट सहने की बात मोल ले ली। भावना भावें, निर्णय रखें इन वस्त्रों से, वैभवों से, शरीरके पोषणसे, भोगोपभोगकी सामग्रीसे। इन सारी बातों से इस आत्मामें शान्ति न आएगी, अतृप्ति ही बनी रहेगी। शान्ति तो तृप्ति तो वस्तुतः अपने आपके आनन्दरसका पान करनेसे ही होगी। तृप्तिका कोई दूसरा उपाय नहीं है। ऐसा निर्णय करके फिर उसी मार्ग में लगना भी चाहिये और चलना भी चाहिये।

लोकाकार्षणमें आत्महितका घात—अगर दुनियाकी ओर दृष्टि चलने लगी तो लोग क्या कहेंगे ? क्या कहते हैं तो वह अपनी रक्षाकी बात नहीं है, वह विडम्बना की ही बात है। अरे, लोग मुझे जानते ही कहां हैं ? मुझे कुछ कह ही नहीं सकते। मैं तो ज्ञानस्वरूप एक आत्मा हूं। इसे कोई जानता है क्या ? जो लोग मुझे बुरा कहेंगे, मूढ़ कहेंगे, वे क्या मुझे जानते हैं ? उन्हें तो मेरे स्वरूप की खबर नहीं है। मैं जगत में अपना ही जिम्मेदार हूं, दूसरे का हम कुछ कर नहीं सकते, दूसरे मेरा कुछ कर नहीं सकते। कोई मानसिक संकट हो जाये, किसीको कोई इष्टवियोगका दुःख हो जाये तो लोग उसे बहुत-बहुत गले लगाकर समझते भी हैं तो भी उसके चित्तमें बात नहीं समाती। जीव सबअकेले-अकेले हैं। अकेले ही सुख-दुःख भोगते, अकेले ही जन्म-मरण करते, तृप्तिका

बाहर में नहीं है। बाहर में जितने दिन लगे उतना ही पछतावाके बढ़ने की बात तो बढ़ेगी। बहुत दिनके बाद पछतावा हाथ रहेगा। तो बाहरी बातों में जितना लगा रहेंगे, उतना ही अपने आपको निर्बल बनाते चले जायेंगे। और देखा होगा, अनुभव किया होगा कि जितने ही झंझट बढ़ते जाते, उनका ही परका फंसाव बढ़ता जाता है और उतना ही कुछ रीतासा किंकर्तव्यताविमूढ़ जैसा दीन चित्त बन जाता है। और किसी परका लगाव न हो, परका बन्धन न हो, परका परिचय न हो, वचन व्यवहार न हो तो अपने उपयोगसे वह सबल बना रह सकता है। जगतमें है क्या ? यहां तो अगर कोई ईमानदारी से रहित है, शक्ति से परे है तो भी उसका गुजारा नहीं है। उसे नाना विडम्बनाएं हैं, उसका जीवन संकट से परिपूर्ण है और अगर कोई सत्यतासे हो और वचन-व्यवहार रखे तो उन वचनोंके बन्धनसे वह भी विडम्बनामें पड़ सकता है। इस जगत में तो मौन रहकर कोई शान्ति पा सकता है। जहां थोड़ा बहुत बोला, वहां विडम्बना हुई। किसी मनुष्य से मित्रता कैसे बढ़ती है ? पहिले वचनोंका आदान-प्रदान होता है और उन वचनोंसे उनके बहुत खण्ड बन जाते हैं, जो अशान्तिकी ओर ले जाते हैं। तो इस जगत में सर्वप्रकार से मौन रहकर अपने आपकी ओर झुककर कोई शान्ति पा सकता है, इसके विरुद्ध तो उसे अशान्ति ही हाथ आयेगी।

बोले सो फंसे—एक कथानक है कि एक साधु महाराज एक जंगल में तपस्या कर रहे थे। वहां एक राजा पहुंचकर निवेदन करता है कि महाराज, मुझे एक पुत्रका आशीर्वाद आपसे चाहिये। साधु कहता है एवं अस्तु ! राजा प्रसन्न चित्त होकर लौट गया। घर में खुश होकर रहने लगा। सोचा कि अब तो साधु ने कह ही दिया। संतान तो होगी ही। कुछ दिन बीत जाने पर साधु योगबलसे देखकर विचार करता है कि मैंने राजासे बोल दिया था, अभी कोई मर भी नहीं रहा, किसे भेजें रानी के गर्भ में ? सो स्वयं मरकर रानी के गर्भमें पहुंचता है। वहां अनेक संकट सहकर साधु विचार करता है कि अब मैं अपने जीवनमें कभी भी बोलूंगा नहीं, क्योंकि ये दुःख मुझे राजासे बोल देनेके ही कारण सहना पड़ रहा है। आखिर पैदा भी हो गया, पर बोले नहीं। राजघराने में पुत्रोत्पत्ति से तो सम्पन्नता हुई, पर गूंगा पुत्र होने से चिंता बढ़ी। राजा ने अपने राज्यमें डंका बजवा दिया कि कोई भी मेरे पुत्रको बोलता बना देगा, उसे बहुतसा पुरस्कार दूंगा। एक दिन क्या घटना घटी कि राजपुत्र बाटिकामें खेल रहा था। एक चिड़ीमार जाल लपेटकर चल देता है। इतमें एक पक्षी बोल उठा कि च्याऊं-च्याऊं। तो चिड़िमार पुनः जाल फैलाकर उस पक्षीको अपने जाल में फांस लेता है। राजपुत्र बोल उठा कि जो बोले सो फंसे। इतने शब्द चिड़िमारने सुन लिये। सोचा कि इस बातकी खबर राज-घरानेमें करूं कि राजपुत्र बोलने लगा है, सो बहुतसा धन मिलेगा। चिड़िमार राजाके पास पहुंचकर कहता है कि महारांजा ! राजपुत्र बोलने लगा। इतनी बात सुनकर राजाने १० गांवकी जायदाद पुरस्कार में दे दी। जब राजपुत्र बाटिका से लौटकर आया तो राजाने देखा कि राजपुत्र तो बोलता ही नहीं है। उसे चिड़िमार पर गुस्सा आया। सोचा कि चिड़िमार भी हमसे हंसी करने लगा है। उसे फांसी का हुक्म राजा ने दे दिया। जब फांसी के तख्ते पर चढ़ गया तो राजा कहता है कि जिससे मिलना चाहे मिल ले। चिड़िमार ने कहा कि महाराज मुझे राजकुमारसे दो मिनट के लिये मिला दीजिये। जब राजकुमार आया तो चिड़िमार बोला कि ऐ राजकुमार। मैंने राजासे झूठ तो न बोला था, मुझे मरने का डर नहीं, पर दुनिया समझेगी कि चिड़िमारने राजासे झूठ बोलाथा, इस बात का दुःख है। सो कृपा करके आप वही शब्द बोल दें जो बाटिका में बोले थे। फिर क्या था, राजकुमारने अपनी सारी कथा सुनाई और बताया कि देखो मैंने, चिड़ियाने और चिड़िमारने बोला, सो ये सब फंसें।

इस जगतमें जो स्नेहके बन्धन बढ़ते हैं, उनका मूल आधार है बोलना। तो यह बोल बोलना इतना खतरनाक परिश्रम है कि हम अपनेको बरबाद कर सकते हैं। इस कारण साधु संतोंने मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और

कायागुप्ति—इन तीनों को किया। सर्वसे वचनव्यवहार त्यागा। उनका एक ही ध्येय था कि अपने आपके चैतन्यस्वरूप आत्मामें लीन होना। वास्तविक तृप्ति तो इसी उद्यम में प्राप्त होती है, बाहर में कहीं भी तृप्तिकी प्राप्ति नहीं होती। इस कारण एक ही निर्णय बना लें कि सर्वबाह्यपदार्थोंमें ममताका परिहार करें, बाहरमें अपने उपयोगको न फंसायें। सर्वसे विविक्त अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन होनेका यत्न करें, इसी धुन में रहें तो सही मायने में हम धर्मपालन कर सकते हैं।

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यं।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथा शक्ति ॥२०॥

उपासक याने श्रावकको भी रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग पालनेकी शिक्षा—मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय है, उसका पूर्णरूपसे तो साधु पालन कर सकते हैं। साधुजन बाह्यमें तो परिग्रह से मुक्त हैं, अतएव साक्षात् मोक्षमार्गके अधिकारी हैं और अन्तरङ्गमें उनके उत्साह बहुत है। मुक्तिके मार्गमें चलनेका, अपने आपके स्वरूपमें उपयोग बनाये रहने का उत्साह अत्यन्त अधिक है। अतएव पूर्णरूपसे पालन मुनि कर सकते हैं, लेकिन जो गृहस्थ हैं उनको भी यथाशक्ति यह सेवन करना योग्य है। अब गृहस्थके सम्यग्दर्शनकी तो कमी नहीं है। जो सम्यग्दर्शन साधु के हैसो गृहस्थ के है। केवल एक सम्यक्चारित्रका अन्तर है, उसका कारण है गृहस्थके अनेक समागम, अनेककी संभाल, धर्म, अर्थ और काम हैं। गृहस्थोंसे सम्यक्चारित्रका विधिवद् पालन नहीं बनता अतएव साधु और गृहस्थके चारित्रमें अन्तर है, लेकिन गृहस्थ भी यह निर्णय कर चुका है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके पालनेसे संसार के संकट मिट सकते हैं। सो वे भी अपनी शक्तिके अनुसार उस ही मोक्षमार्गमें लगते हैं।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

सम्यग्दर्शनकी सर्वप्रथम समुपाश्रयणीयता—उन तीनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से पहिले समस्त प्रकारके प्रयत्नपूर्वक सम्यग्दर्शनका उपाश्रय लेना चाहिये, क्योंकि सम्यक्त्वके होने पर सम्यग्ज्ञान और चारित्र हो सकता है। जिस सम्यक्चारित्रके नामपर व्रत तप कठिन कठिन तपश्चरण भी कर रहे और उसमें यथार्थ श्रद्धानकी बात नहीं आयी कि ये तपश्चरण किस लिये किये जा रहे हैं। किये जा रहे हैं अथवा होते हैं। कुछ भी विश्वास निजतत्त्व के अनुरूप नहीं है। और ये तपश्चरण आदि कर रहा है तो उससे मुक्तिके मार्गमें लाभ न मिल जायेगा। पुण्य और धर्म—ये दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। पुण्यमें रागांश है और धर्ममें राग नहीं है। अतः रागभाव जहां रंच न हो उसे धर्म कहते हैं। अथवा रागरहित आत्माको स्वभाव का अनुभव होना सो धर्म है और पुण्य में दया है, दान है, परोपकार है, दूसरों की भलाई का विचार है—ये सब साथ चलते हैं, पर इनके साथ रागांश मिला हुआ है। जितने में रागांश है उतनेमें बाधक समझिये और जितने में वीतरागता प्रकट है उतने में मोक्षका मार्ग है। हम आप सबको भलाई मिलेगी, शान्ति मिलेगी, कल्याण मिलेगा तो राग मिटाने से मिलेगा। रागका उपयोग बनाने में तो क्षोभ ही होगा, शान्ति की अवस्था न आयेगी। सम्यक्त्वमें सर्वप्रथम यही तो बात है कि रागरहित, क्षोभरहित केवल चैतन्यरससे भरपूर ऐसा जो आत्मस्वभाव है उस रूप अपनेको विश्वास करना कि यह मैं हूं, बाकी कुछ नहीं हूं।

नामाश्रयसे आस्रव सम्भव होनेसे स्वके निर्नाम स्वरूपकी भावनाका उपदेश—जो कोई नाम लेकर गाली दे रहा और मन में यह बात रख रहा कि मैं नाम भी नहीं हूं। दूसरेका नाम लेकर गाली दे तो खुदको बुरा नहीं लगता है। वह जानता है कि यह तो दूसरे को कह रहा है। बुरा नहीं मानता। ऐसे ही कोई इस पर्यायका जो नाम रखा गया वह नाम लेकर भी गाली दे तो ज्ञानीका यह निश्चय है कि मैं तो बिना नाम का हूं, मुझे कुछ नहीं

कह रहा। यह मुझे जानता ही नहीं, मेरा इसको परिचय ही नहीं, मुझे यह कुछ नहीं कह रहा, किन्तु एक मायामय पर्यायमें नामका या जैसा भी उसने लक्ष्य बनाया उस लक्ष्यको यह कह रहा है। इस नामरहित अपने आपके स्वरूपका अनुभव जगे, इस रूपमें अपने आपका परिचय पाये कि मैं नामरहित हूं, मेरे में जो है सो नजर में आ रहा है। अमूर्त निर्विकल्प सबसे निराला यह मैं नामरहित हूं, ऐसा निर्णय होने पर बहुतसी आकुलतायें मिट जाती हैं। आकुलतायें नामसे चिपटी हुई होती हैं। मुझे ऐसा कह डाला बस, जहां अपने नामका लगाव हुआ, वहींसे विवाद और कलह शुरू हो जाते हैं। कोई आदमी गाली दे रहा हो और कल्पना यह आ जाये कि यह हमको ही कह रहा है दूसरे को नहीं तो यह बुरा मान जायेगा। तो नामका जो लगाव है यह कर्मबंधकी एक बहुत विशिष्ट पद्धति है। बौद्धजनोंने जहां आत्माके हेतु बताया तो सबसे पहिले उन्होंने नाम रखा। नामरूप विज्ञान संस्कार उनके उनके ऐसी चुनी हुई श्रेणियां हैं जिनमें यह बताया है कि कर्मोंका बन्ध, कर्मोंका आस्रव किस प्रकार होता है। सबसे पहिले नाम का लगाव है सो आस्रव होता है। बाद में रूपका जो लगाव है वह नामके लगाव से विशिष्ट है, सो उससे कर्मोंका का आस्रव होता है। तीसरा आस्रव है याने यह जानकारी। बौद्ध लोगोंकी दृष्टि में तो ये सब ज्ञान मिथ्या हैं। कितना भी ज्ञान हो, जहां केवल एक निर्विकल्प के दर्शन हैं, जहां एक प्रतिभासमात्र है, चेतनामात्र है। वह तो है उनका परमार्थ और जितनी ये जानकारी हैं ये सब हैं उनके उपादान और जिस प्रयोजनको लेकर वे कहते हैं तथा तुरन्त सुनने में भला ही लगता है कि हमारे दुःखके कारण ये सब विज्ञान हैं, ज्ञान हैं, ये जानकारियां हैं, उससे दुःख होता है। यह जानकारी न हो, जानकारी मिटा दी तो कोई दुःख नहीं। फिर क्या रहेगा अन्दर ? जो रहे सो रहे। बौद्धोंके यहां जीवके एकमात्र चेतना है और प्रमाण के सिद्धान्तमें निर्विकल्प ज्ञान है। तो वह ज्ञान भी आस्रव है, संस्कार भी आस्रव है। देखो इस सब विडम्बनाका मूल हुआ नाम वासना।

ध्रुव निर्नाम अन्तस्तत्वके परिचयमें सम्यक्त्वका उपाश्रय—बौद्धोंके यहां प्रत्येक पर्याय को पूरा-पूरा द्रव्य कहा गया है। जैसे सिद्धान्त कहता है कि पर्याय क्षणिक हैं, क्षणभरको होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। बौद्ध-सिद्धान्तमें ये पदार्थ क्षणिक हैं, वे क्षण भर में हुए और नष्ट हो गए। कोई पूछे कि ऐसा ही आत्माका हाल होगा ? आत्मा आया और मिट गया, दूसरा आत्मा आया वह मिटा, फिर तीसरा आया वह मिटा, इस तरह तो अनेक आते रहते हैं। कोई पूछे कि जब वह आत्मा अनेक एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है तो यह हमारे देह में रहने वाला आत्मा, आपके देहमें रहने वाले आत्मा की बात नहीं जानता। ऐसे ही इस देह में भी जो अनेक आत्मा हो रहे हैं तो वह आत्माकी बातको अकेला आत्मा नहीं जान सकता। जैसे दूसरे आत्मा हमारी बात नहीं जानते तो इस देह में उत्पन्न होने वाले जो अनेक आत्मा हैं वे भी पहिले आत्मा की बात नहीं जानते। लेकिन हो क्या रहा है ? सब जानते हैं कि उसने मुझे कल यह कहा था, कल लगाव किया था—ये सब संस्कार रहते हैं। उधार दिया किसीको तो ख्याल रहता है। तो यह जो चीज है वह क्यों है ? तो इसका उत्तर है संस्कारकी वजहसे। जैसे दृष्टान्त देते हैं कि दीपक में तेल की एक-एक बूंद जलती है तो जो दीपक जल रहा है वह जिस जगह जल रहा है वह बूंद तो खत्म हो गई, उसका आप दूसरा बूंद जलाते, फिर तीशरा बूंद जलाते। तो जैसे भिन्न-भिन्न तेलकी बूंद जल रही हैं, लेकिन दिख यों रहा है कि दीपकमें कुछ अन्तर नहीं आ रहा है। एक बूंद जले फिर दीपक शांत हो जाए, फिर जल जाये—ऐसा दीपकके अन्दर नहीं नजर आता। इसका क्या कारण है ? इसका कारण है संस्कार। तैल के एक बूंद के करीब दूसरी बूंद ऐसी चिपटी है कि वहां अन्तर नहीं है। जैसे एक उपयोगके तेलकी अनगिनत बूंद क्रमसे चलती रहती हैं और अन्तर नहीं नजर आता। इसी प्रकार अनेक देहोंमें अनेक आत्मा निरन्तर अगले-अगले क्षण उत्पन्न होते रहते है, लेकिन एक आत्माकी बातको जो अकेला आत्मा जानता है वह संस्कारकी वजहसे जानता है। तो उनका कहना है कि ये संस्कार हमें न चाहिये। न हमें नामका आश्रय लेना है, किन्तु वे सब विडम्बनायें हैं। तो प्रसंग यह था कि नामका लगाव भी बहुत बड़ी विपदा है, दुःखी होना पड़ता है। तो मैं नामरहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र आत्मा

हूं। ऐसा अनुभव होना सो सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वके होने पर ज्ञान और चारित्र समीचीन होते हैं।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२॥

सम्यक्त्व स्वरूपका निर्देशन—सम्यक्त्व क्या है? जीव अजीव आदिक मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीव तत्त्वका श्रद्धान करना यही है सम्यग्दर्शन। और वह ७ तत्त्वोंके श्रद्धानके नामसे जिस सम्यग्दर्शनको हम कह सकें वह सम्यग्दर्शन वास्तवमें अपने विपरीत आशयरहित आत्माका स्वरूप है। सम्यक्त्व अनिर्वचनीय तत्त्व है। उसे वचनोंसे नहीं बताया जा सकता कि सम्यक्त्व क्या है। वह सम्यक्त्व मिथ्या अभिप्राय से रहित एक आत्मा के स्वरूपकी बात है। विपरीत अभिप्राय न रहे, मानों एक स्वच्छता प्रकट हो। सम्यक्त्वका अर्थ स्वच्छता है। सम्यक्त्वा कहो या स्वच्छता कहो, विपरीत अभिप्राय दूर हो गया और स्वच्छता आ गई। अब उसका रहितरूप से उपदेश होगा। जैसे जो पानी बहुत गन्दा था, अब वह हो जाए स्वच्छ। कोई पूछे कि अब क्या हो गया इस पानी में? तो वह यों ही बतावेगा कि गन्दगी हट गई, निर्मल हो गया। इन शब्दोंसे बढ़कर शब्द है स्वच्छता हो गई। कोई पूछे कि पानीकी स्वच्छता कैसी होती है? जहाँ परवस्तुका अब लेप नहीं रहा। मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीव अजीव आदिक ७ तत्त्वों का श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन है। वहां विपरीत अभिप्राय नहीं है और आत्माका ऐसा स्वरूप है। आत्मार्थीको विपरीत आशय मिटाना है। किसी दूसरे की बुराईका परिणाम मिट जाए, दूसरेकी निन्दा का परिणाम मिट जाए, यह तो स्वच्छता का फल है। इस स्वच्छताको किन्हीं भी शब्दोंमें नहीं कहा जा सकता। जो है सो सर्वस्व अब प्रकट होने वाला है। ऐसी स्वच्छता विपरीत अभिप्रायरहित है और आत्माका स्वरूप है। ऐसा जो परिणमन है, सम्यक्त्व है सो मोक्षमार्ग की जड़ है। जैसे जड़के बिना पेड़ नहीं ठहर सकता, यों ही सम्यक्त्व के बिना मोक्षमार्गका नाम भी नहीं आ सकता। सम्यक्त्व होते पर चारित्र पालन किया जाए तो उसमें यथार्थता और दृढ़ता आ जाती है। यह सम्यग्दर्शन सो विविक्त आत्मस्वरूप है। सम्यक्त्वको बातोंमें बांधे तो यों कहना चाहिए कि वह मिथ्या आशयरहित है, ७ तत्त्वोंका श्रद्धान है, देव शास्त्र गुरू की विनय है—ये सब बातें सम्यक्त्वमें हैं; पर इतने मात्रसे ही सम्यक्त्व नहीं बनता। स्वच्छता हो गई जिसके कारण विकल्पोंसे उपयोग हट गया, निर्विकल्प स्वरूप का आलम्बन लेने लगा सो है सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन एक ऐसी मूलभूत चीज है कि सम्यक्त्वके होने पर व्रत आदिक की कीमत बढ़ जाती है। सम्यक्त्व है एक अंककी तरह। जैसे एक अंकके आगे एक-एक शून्य क्रमश: बढ़ाते जायें तो तो दस गुना बढ़ता जाता है। ऐसे ही सम्यग्दर्शन के होने पर व्रत तपश्चरण संयम ये सब महत्व को प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण सर्वप्रकार के प्रयत्नों से अपने आप में मोक्षमार्ग का विकास कर लेना चाहिये। यह गृहस्थों को उपदेश है। अब पद्धतिरूप से जैसे बात निभ सकती है उसे कहेंगे। संक्षेप में इतना जानें कि हम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका यत्न करें, अपने आप में लीन होने का यत्न करें। यही हमारे कल्याण का उपाय है।

राग और मोहका विवेचन—भैया! रागमें और मोहमें तो महान् अन्तर है। मोहमें जहां यह विश्वास रहता है कि मेरी जिन्दगी इनके सहारे है, मेरा अस्तित्व इनके सहारे है, मेरा सुख, मेरा ज्ञान, मेरा बड़प्पन सब इन लोगोंके कारण है, हम परिवारसे भरे पूरे हैं तो हम बड़े कहलाते हैं। इनसे ही हमारा सुखमय जीवन है। मोहमें ऐसा विश्वास बनता है और इस मुग्ध विश्वासके कारण वह पुरुष पद-पदपर दु:खी होता है, क्योंकि उसने अपनेका परका अधिकारी माना। जब उसने यह देखा कि मेरे अनुकूल नहीं चलता तो कर्तृत्वबुद्धि बनानेके कारण उसे खेद होता है। अज्ञानी पुरुष तो अपनी इच्छाके प्रतिकूल परिणमन देखकर दु:खी होता है और अपनी इच्छाके अनुकूल परिणमन देखे तो वहां क्षोभ करता है।

निर्वाणकी पात्रता—जब यह आत्मा, आत्मा ही ज्ञाता, आत्मा ही ज्ञेय रहकर एक अभेदोपयोगी बनता है, तब मोक्ष तककी भी वहां इच्छा नहीं रहती है। वहां मर्म यह है कि एक अद्वैत बुद्धि रहना सो तो सिद्धि है और जहां द्वैत भाव आया, द्वैधीकरण आया बस वहीं क्लेश है। यह मैं आत्मा हूं इतना तक भी परिणाम हुआ

तो वह विकल्प है। आत्माको पूर्ण निर्विकल्प समाधिमय होना चाहिए तब उसकी मुक्ति होती है। यह आत्मतत्व निरुपराग है, जो कुछ भी है वह अकेले है, दूसरेको लेकर है कोई नहीं बनता। दूसरेका गुण उधार लेकर सत् नहीं बना करता है। जो भी पदार्थ है वह पूरा अपने आप है, मैं आत्मा हूँ तो मैं अपने आप ज्ञानमात्र हूं, सत् हूं, किसी दूसरेका सहारा लेकर नहीं हूं।

ज्ञायककी ज्ञानानन्दरूपता—भैया ! ऐसा मालूम होता है मोहमें कि मैं इन्द्रियोंके सहारे जानता हूं। पहिली बात वहाँ यह है कि इन्द्रियोंका सहारा लेने से हमारे ज्ञानमें कमी आयी है, ज्ञानका विकास रुक गया है। ये इन्द्रियां तो एक कमरेकी खिड़कियोंकी तरह हैं। जानने वाला पुरुष तो अलग है, खिड़कियां नहीं जानती हैं। खिड़कियोंके होनेसे तो बल्कि उस जानने वाले पुरुषको रुकावट हो रही है। वह अब केवल खिड़कियोंसे जाने और जगहोंसे नहीं जान सकता। ऐसे ही मैं तो ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानसे सबको निरन्तर जानता रहता हूं। इन इन्द्रियोंके कारण तो मेरेमें रुकावट आयी है। मैं अब सबको नहीं जान सकता। इन्द्रियोंका जब तक हम सहारा लेते हैं तब तक हम सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इन्द्रियोंका सहारा मोहवश लेता है यह जीव। इन इन्द्रियोंकी उपेक्षा करके अपने शुद्ध ज्ञानामृतका पान करना चाहिए।

परमार्थतः पदार्थकी निर्नामता—भैया ! सच पूछो तो नाम तो किसी वस्तुका होता ही नही है। जो भी विशेषता उस वस्तुमें नजर आयी वही नाम लोग लेते हैं। बस नाम उस वस्तुका नहीं है। जैसे लोग कहते हैं इस देहको शरीर। तो कोई कहे कि शरीर तो नाम है। पर शरीर नाम नहीं है, शीर्यते इति शरीरम्। जो सड़े गले उसका नाम शरीर है। यह विशेषण है। इस शब्दने विशेषता बतायी है। देह दिह्यते उपचीयते इति देहः जो संचित हो उसे देह कहते हैं। संदूक भी नाम नहीं है, 'सं' मायने अच्छी तरहसे 'दूक' मायने छिप जाय जिसमें वह संदूक है। यह विशेषता है, पदार्थका निजका नाम नहीं है, नाम किसीका होता ही नहीं है, विशेषताको लोग पुकारते हैं। दुकान--दुकान नाम नहीं है, जहां दो कानों से व्यवहार चले उसका नाम दुकान है, एक बेचने वालेका कान और एक लेने वालेका कान। अथवा, दुका न, कोई चीज दुकावो नहीं, सामने रक्खो, उसका नाम दुकान है। चौकी—यह नाम नहीं है, किन्तु चार कोने जिसमें हों उसका नाम चौकी है। किसी वस्तुका नाम ही नहीं होता। लोग तो अपने मतलब के अनुसार जो उनके प्रयोजनकी विशेषता मालूम हुई—नाम रख लिया। किवार कि मायने किसीको वार दे मायने रोक दे, कुत्ता बिल्ली आदमी आदि सबको किसी को न आने दे वह किवार है। भींट—भींच करके ईंट लगाये उसका नाम है भींट। नाम किसी का होता ही नहीं है, अपने स्वार्थवश जो विशेषता हम देखते हैं उसका नाम लगा देते हैं।

सम्यक्त्वमें श्रद्धेय सात तत्वोंका निर्देश—मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत ७ तत्व—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। उनमें से जीव तीन प्रकारके हैं। सम्यक्त्वके प्रकरणकी बात है। एक तो शुद्ध जीव है, परमात्मा है; दूसरे जो अशुद्ध हैं, मिथ्यादृष्टि हैं; तीसरे कुछ सम्यक्त्वका अंश है और कुछ मिथ्यात्वका अंश है। ऐसे होते हैं तीसरे गुणस्थान वाले। इन तीनमें सिद्धपरमात्माको तो ग्रहण करें, क्योंकि वे मोक्षके मार्गके फलको प्राप्त कर चुके हैं। अशुद्ध जीव और मिश्र जीव। अशुद्ध जीवमें मिथ्यादृष्टि भी लेना और १२ वें गुणस्थान वाले भी लेना। तो इन जीवोंके साथ मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्व बताये जा रहे हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। और इसे दो दृष्टियोंसे देखें—एक उपचार दृष्टिसे और एक निश्चय दृष्टिसे। जिसमें दो पदार्थोंका सम्बन्ध बताकर कथन है वह उपचार कथन है और निश्चयदृष्टिका एक सम्बन्ध बताकर जो कथन है वह निश्चय कथन है। जीवके साथ कर्मबंधन है यह उपचार कथन है। इसे उपचार से आस्रव कहा। हालांकि यह बात बहुत मुख्यसी दिख रही है। सभी लोगोंका ऐसा व्यवहार है कि जीवमें कर्म आना सो आस्रव है, पर यह व्यवहारकथन है। यहां दो दृष्टियां रखकर बात कही गई है। आस्रव

न जीवका परिणमन है और न कर्मका परिणमन है। उपचारसे आस्रव है जीवमें अजीवका आना। बंध है जीवमें कर्मोंका बंधन। यहां भी दो पदार्थोंपर दृष्टि है—जीव और कर्म। दो की दृष्टि देकर जो बन्धनरूप बात कही है, क्या यह जीवका परिणमन है या कर्मका ? कोई उत्तर नहीं है। दो पदार्थोंका भाव रखकर जो बंधका कथन है वह व्यवहारसे बंधन है। अब जीवमें कर्म न आयें इसका नाम सम्वर है। कर्मोंका आना रुक जाए सो सम्वर है। कर्मोंका न आना आस्रवका रुकना यह किसका परिणमन है ? दो पदार्थोंकी दृष्टि रखकर सम्वरका कथन किया जाएगा। कर्म रहें नहीं, जीवमें कर्म झड़ें उसका नाम निर्जरा है। यहां पर भी दो पदार्थों पर दृष्टि है—जीव और कर्म। ऐसा कार्य जीवका है या कर्मका ? इसका कोई उत्तर नहीं है। यह भी दो पदार्थोंका कथन होनेसे व्यवहार कथन है। इसी तरह कर्मोंका बिल्कुल निकल जाना यह भी दो पदार्थोंकी दृष्टि रख कर कहा गया है। जीवमें से कर्म हट गए ऐसा जो हटनेरूप परिणमन है, वह क्या जीवका परिणमन है अथवा कर्मका परिणमन है ? तो यह सब व्यवहारकथन है।

निश्चयसे आस्रवादिकके स्वरूपका निर्देशन—अब निश्चयकथनसे देखो तो आस्रव क्या है ? जीवमें एक सहज स्वभावरूपसे जीव माना है। अब ऐसा जो जीवमें विभावोंका आना है, उदय होना, प्रकट होना सो आस्रव है। यह निश्चयसे आस्रवका कथन है, क्योंकि यह परिणमन जीवका है। जीवमें रागादिक भाव आयें तो ऐसे विभावोंका उठना, विभावोंका परिणम होना यह जीवका आस्रव है तो यह निश्चयकथन है। चूंकि आस्रव तत्व मिला है इसलिये अशुद्ध तत्वमें घटेगा, दृष्टिमें नहीं। इसी प्रकार बंध सहज स्वभाव लक्षण वाले इस जीव पदार्थको शुद्ध जीवास्तिकायके विभावोंको बंध जाना, विभावोंका संस्कारबन्धन, यह है बन्ध निश्चय दृष्टिसे; क्योंकि ऐसा बन्धन होना, स्वभावका संस्कार होना यह सब जीवका परिणमन है। सम्वरमें, शुद्ध जीवास्तिकायमें विभावोंका रुक जाना, विभाव न आ सकें उतने देश में जो भी, वह सम्वर है। तो यह कथन भी निश्चयकथन है, क्योंकि एक जीवास्तिकायमें दोनों बातें बतायी जा रही हैं। स्वभावमें विभावका आना आस्रव है, स्वभावमें विभावका बंधना बंध है। स्वभावमें विभाव न आ सकें सो सम्वर है यह निश्चय करें। जीवसे विभावोंका झड़ना सो निर्जरा है। जीवमें जो विभाव बंध रहे हैं, रागादिकका संस्कार चल रहा है, लगाव चल रहा है वह भंग हो जाए, यह बात तो जीवमें होती ही है। इस प्रकारकी निर्जरा बताना निश्चयसे निर्जरा है। शुद्ध जीवास्तिकायसे निश्चय किये गए जीव पदार्थमें अब विभाव बिल्कुल नहीं रहे। जो विशुद्धता प्रकट हुई इसका नाम है मोक्ष। यह भी निश्चयकथन है, क्योंकि एक ही पदार्थको यथार्थमें लक्ष्यमें रखकर कहा है। यों जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष—इन ७ तत्वोंका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है।

पुद्‌गलोंका विवरण—इस प्रयोजनभूत तत्त्वको स्पष्ट समझानेमें सहायक कुछ अन्य पदार्थोंका भी वर्णन है। अजीवके ५ भेद हैं—पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। पुद्‌गलमें अनेक प्रकारकी वर्गणायें हैं, उनमेंसे ५ प्रकारकी वर्गणायें जीव ग्रहण करता है। आहारवर्गणायें जिनसे जीवका शरीर बनता है, तैजस वर्गणायें जिससे जीवके शरीरमें तेज होता है, कार्माणवर्गणायें जो कर्मरूप परिणमकर जीवके साथ बंधती हैं और भाषावर्गणा जो भाषारूप वचनरूप परिणम जाती हैं और मनोवर्गणा जिसके आलम्बनसे विचार करनेकी बात चलती है। इन ५ प्रकारकी वर्गणावोंमें से यहां प्रयोजनभूत बंधन है कार्माणवर्गणावोंका। लेकिन मोक्षमार्गके प्रयोजनमें केवल कार्माणवर्गणाका ज्ञान बनाया तो भी विशदता नहीं आती है। इस कारण [illegible] वर्गणावोंकी भी बात जाननी चाहिये। पहिली है आहारवर्गणा। आहारवर्गणा जीवगृहीत और जीवत्यक्त अर्थात् जिन्दा शरीर और मुर्दा शरीर—इन दो रूपों में आहारवर्गणावोंका काम दीखता है। जिन शरीर वर्गणावोंसे यह शरीर बनता है वे आहारवर्गणायें कहलाती हैं। जब तक जीव है तब तक जीवित शरीरमें आहारवर्गणायें हैं। जब जीव चला गया तो शरीर कहाँ चला जाए। जीवके द्वारा ग्रहणके रूपमें जो एक पिंड बन गया था, जीवके

चले जाने पर भी वह पिंड कहां जाए ? कुछ ऐसे होते हैं कि जीव चला जाए तो शरीर भी कपूरकी तरह उड़ जाता है। जिनका मोक्ष होता है उनका शरीर कपूरकी तरह उड़ जाता है। इसी तरह भोगभूमियाका शरीर, देवों का शरीर जीव चला जाने पर वह शरीर यों ही झड़ जाता है, यह मिलता नहीं है। तो सभी शरीरोंका यही हाल नहीं है कि जीव चला जाए तो शरीर कपूरकी तरह उड़ जाए। यदि शरीर होते हैं सूक्ष्म, जो किसीसे अपहृत नहीं हो सकते। कुछ शरीर स्थूल हैं जो छिद भिद सकें। इन काठ पत्थरोंको अगर तोड़ दिया जाए तो क्या फिर मिलता है ? तो ये स्थूल स्थूल हैं। दूध, पानी, तैल ऐसे जो द्रव तत्व हैं, वे अलग अलग कर देने पर भी एकमेक हो जावेंगे, एक एक अलग अलग न रहेंगे, वे एक बन जावेंगे, ऐसे पदार्थ कहलाते हैं स्थूल। तीसरी प्रकारके पदार्थ हैं स्थूलस्थूल। जो दिखनेमें तो आ जायें, परन्तु पकड़े न जा सकें भिन्न भिन्न न किये जा सकें वे स्थूलसूक्ष्म हैं। जैसे धूप चांदनी ये दृष्टिगत तो होते हैं। अंधेरा भी दिखता है, अंधेरेमें और चीजें नहीं दिखतीं, मगर अंधेरा तो दिखता है। प्रकाश चांदनी भी देखनेमें आते, पर पकड़े नहीं जा सकते। तो ये हुए स्थूल सूक्ष्म। चौथे होते हैं सूक्ष्मस्थल। जो देखा भी नहीं जा सकता परन्तु इन्द्रियोंसे ग्रहण किया जा सकता है। जैसे गंध शब्द आदिक ये ग्रहण किये जा सकते हैं। पर न भिन्न भिन्न हो सकें, न पकड़े जा सकें ये सब क्या हैं ? आहारवर्गणावोंसे बना हुए शरीर हैं और उनके आश्रयसे निष्पन्न हुए परिणमन हैं। ५ वें प्रकारके पुद्गल हैं सूक्ष्म। कार्माणवर्गणायें जो इन्द्रियोंसे भी ग्रहण नहीं किए जा सकते हैं। अन्तका जो कार्माणशरीर है—ये भोगमें, विषयमें, इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें भी नहीं आ सकते। और छठे प्रकारके हैं सूक्ष्म सूक्ष्म। वे हुए अविभागी परमाणु। यह तो मालूम पड़े कि दुनियामें ये सब चीजें हैं क्या ? यह सब जो दिख रहा है वह आहारवर्गणावोंका प्रसार है, ये सब पुद्गल हुए।

धर्म अधर्म आकाश और कालका निर्देश—अब धर्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गलको चलानेमें सहकारी हो वह धर्मद्रव्य है। यह विषय समझना कठिन है फिर भी कुछ अनुमानसे जाना जा सकता है। इस आकाशमें कुछ ऐसे सूक्ष्म पदार्थ हैं कि जीवपुद्गल चलते हैं तो उन तरंगोंका सहारा लेकर चलते हैं। शब्दोंके बारेमें आजकल के वैज्ञानिक कहते हैं कि आकाशमें पंक्तियां, तरंगें होती हैं, उसके मुताबिक ये शब्द चलते हैं। उससे यह अनुमान किया जाता है कि चलनेमें सहकारी कैसी पंक्तियां चाहियें ? छोटी सी चीज हों, उनमें भी कुछ पंक्तियां नजर आती हैं। यह आकाश यद्यपि अमूर्त है लेकिन उसमें भी पंक्तियोंकी रचना है और ऐसा ही लोकाकाशमें धर्मद्रव्य है। यह धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलके चलने में सहकारी होता है। एक है अधर्मद्रव्य जो चलते हुए जीव पुद्गल जब ठहरें तो उनके ठहरनेमें सहायक अधर्मद्रव्य होता है। यह भी समस्त लोकाकाशमें व्याप्त है। एक आकाशद्रव्य है। आकाशद्रव्यका उपग्रह है जीवको अवगाह देना। आकाशने मना नहीं किया कि लोकाकाशके बाहर कोई मत आये, किन्तु धर्म अधर्म द्रव्यका जहां तक सद्भाव है वहां तक जीव पुद्गलका गमन है। इस कारण ये पदार्थ अलोकाकाश में नहीं पहुंच सकते। पर आकाशका जो लक्षण है वह सदा खुला हुआ है। अवगाह तो रहा था। कल्पना करो कि जहां अलोकाकाश है, समस्त लोकसे बाहरका क्षेत्र है वहां कोई चीज विभाजन करने वाली सीमा नहीं पड़ी है। अलोकाकाश व लोकाकाशमें कोई अलग भेद नहीं है। जहां तक जीव पुद्गल का अस्तित्व है, लोकके अन्दर जितने हिस्सोंमें सर्वपदार्थ देखे जायें उतनेका नाम लोकाकाश है। आकाश तो समस्त पूर्ण अखण्ड है, पर उसमें सम्बन्धवश कल्पना हुई है कि यह आकाश लोकाकाश है शेष अलोकाकाश। लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर एक एक कालद्रव्य बैठा हुआ है और उस कालद्रव्यकी परिणति क्या है कि उसमें से समय, समय, समय ऐसी पर्याय बनती चली जाती हैं। कालद्रव्यमें समय नामक परिणमन होता रहता है। अब उस समयसे जो चलित हो गया उसे हम सेकिण्ड मिनट घण्टा आदि कहते हैं।

इन षड्द्रव्योंमें जीव और कर्म इन दोनोंका जो परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चल रहा है

संयोगरूप अथवा वियोगरूप, उससे ये ७ तत्त्व विज्ञात होते हैं। इन ७ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना इसका नाम है सम्यग्दर्शन।

सम्यक्त्वकी अमोघता—कोई ऐसी शंका कर सकता है कि सम्यग्दर्शन होनेके बाद सम्यग्दृष्टिको सदा श्रद्धान रहे यह जरूरी नहीं है। पौराणिक दृष्टि तो पहिले ही से बात बताती है। जैसे रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी के मृतक शरीरमें विलाप किया। क्या वहां ७ तत्वोंका श्रद्धान है? और भी अनेक व्यवस्थावोंके काम करते हुए क्या इस जीवको श्रद्धान रहता है? जब सम्यग्दृष्टि जीवके विषयकषायोंकी तीव्रता है उस समय श्रद्धान नहीं होता। लक्ष्य वह बना रहना चाहिये कि जीवादिक ७ तत्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यक्त्वका कथन उपयुक्त नहीं है। उसका समाधान यह है कि एक श्रद्धानरूप भाव और एक परिणमनरूप भाव। तो श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण है और परिणमन चारित्रसे संबन्धित है। जैसे रातमें उत्पन्न हुआ अन्धेरा रहता है तो उसमें हमारा उपयोग चलता नहीं है, किन्तु मेरे लिए मेरे अन्दर तो स्फूर्ति है, इसी प्रकार जब उपयोग विषयकषायोंमें चला जाता है उस समय श्रद्धान नहीं है अनुभवमें, उपयोगमें; लेकिन अन्त: वह मुक्तता प्रतीति बराबर बनी है। जब विषयकषायोंकी स्फूर्ति रहे, उस समय झूठा श्रद्धान आ जाता है। यों श्रद्धानरूप भाव है वह सब चारित्रके लिये है। इससे यह बात बताई जाती है कि श्रद्धान है अन्तरंगमें और परिणमन है बहिरंगमें असंयत के। जैसे कोई मुनीम किसी सेठकीदूकानमें काम करता है तो उसके निरन्तर यह श्रद्धान बना है कि यह वैभव मेरा नहीं है, यह सब सेठसे संबन्धित है। वह मुनीम ग्राहकोंसे झगड़ता भी है। यह मेरा है, मेरा है ऐसा भी कहता है। मेरेको इतना तुमसे मिलना है, तुम पर इतना मेरा बाकी है ऐसा भी वह कहता जाता है, पर उसके अन्तरंगमें ऐसा आशय बसा है कि यह सब कुछ मेरा नहीं है, यह सब सेठका है। लेकिन उस मुनीमके परिणमनको देखो कि लोगोंसे झगड़ता है और उन सबको मेरा मेरा कहता है। जब सेठके सामने अपना हिसाब पेश करता है तो उस समय जो उसका अन्तरंग श्रद्धान है वह बाहर भी जाहिर हो जाता है। उस समय स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि यह चीज आपकी है। वहाँ मेरा नहीं कहता और ग्राहकोंके सामने मेरी मेरी करता है। तो परिणमन बात और है, श्रद्धानरूप भाव और है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टिको श्रद्धान रहता है, पर विषयकषायकी प्रेरणासे उसके परिणमन कुछ अन्य अन्य हो जाते हैं मगर श्रद्धान बराबर बना रहता है। इस तरह जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष—इनका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग है। यह स्थिति है, अवश्य होती है। चाहे गृहस्थ हो, चाहे श्रावक, सम्यग्दर्शन हो तो मोक्षमार्ग मिलता है।

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्तव्या ।।२३।।

सम्यग्दर्शनके ८ अङ्गोंमें निःशंकित अङ्ग—सम्यग्दर्शनके ८ अंग होते हैं। तो जैसे शरीरमें ८ अंग हैं, उन ८ अंगोंमें से कोई अंग न रहे तो शरीर क्या शरीर है? वह तो बेकार है। इसी तरह सम्यग्दर्शनके ८ अंग होते हैं। उन ८ अंगोंका जो समूह है सो सम्यग्दर्शन है। यों समझो कि जैसे शरीरके ८ अंग हैं—दो हाथ, दो पैर, पीठ, छाती, एक नितम्ब और एक मस्तक। अब इनमेंसे कोई अंग न रहे तो शरीरका काम न चले। ऐसे ही सम्यग्दर्शनके ८ अंग हैं, उनमें से कोई एक न रहे तो मोक्षमार्गका काम नहीं चल सकता। उन ८ अंगोंमें सबसे पहिले अंगका नाम है निःशंकित अंग। जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें शंका न करना यह निःशंकित अंग है। तो यह मोटेरूपसे निःशंकित अंग है। फिर इससे और भीतर चले तो ७ प्रकारकी शंकायें और भय न हों सो निशंकित अंग है। उन सात शंकावोंमें प्रथम शंका है इहलोककी शंका। सम्यग्दृष्टि जीवको इस लोककी शंका नहीं रहती, क्योंकि वह जानता है कि मेरा लोक यह नहीं है। मेरा समागम, मेरे ठाठ ये कहीं कुछ नहीं हैं। यह एक आफत है और इसमें

जो चित्त फंसा रहता है, उससे तो मेरे आत्माका घात है। कुछ रक्षा नहीं है और जो लोग धन वैभव या इज्जत प्रतिष्ठा आदिकके लिए बड़ी अपनी कमर कसे रहते हैं ऐसे अनेक लोग हैं तो उनका क्या लक्ष्य है, बेकार श्रम है।

परसे इज्जतकी चाहकी गन्दी भीख—ज्ञानीजन ऐसा विचार करते हैं कि वैभवशील बनें, विद्यावान बनें, बड़े ऊंचे नेता बनें। इन सबके होनेमें मूलभाव उनका यह है कि लोग मुझे अच्छा समझें। धनवान क्यों बनते हैं? लोग मुझे अच्छा समझें इस बातके लिए। संस्कृत, अंग्रेजी आदिक बड़ी विद्यायें सीखना इसी बातके लिए है कि लोग मुझे अच्छा समझें। इस परिणाममें तो उसने लोगोंसे भीख मांगी कि नहीं? ये लोग मुझे अच्छा जानें ऐसा जो परिणाम है यह भीख मांगनेकी तरह ही तो है। कोई किसीसे पैसोंकी भीख मांगता है, कोई रोटीकी। रोटीकी भीख मांगना उस अच्छा कहलवानेकी अपेक्षा ठीक है। भला रोटीकी भीख मांगने पर पेट तो भरेगा, तबियत शान्त रहेगी, मगर लोगोंसे अपनेको अच्छा कहलवाने की भीख मांगना एक बड़ी गन्दी बात है। क्योंकि प्रथम तो अज्ञान बसा है। क्या हैं ये लोग? कर्मोंके प्रेरे, जन्म मरण करने वाले, पुण्य पापके खेलमें रमने वाले दुःखी जीव विषय और कषायोंसे मलिन पंचेन्द्रियके विषयोंके चाहने वाले ऐसे इन गन्दे शरीर वाले लोगोंने मुझे कुछ अच्छा कह दिया तो इससे इस आत्माको क्या लाभ मिला? अरे अपनेमें कुछ विवेक जगना चाहिए। और फिर देखो नामकी चाह करनेसे लाभ क्या? इस मुझ आत्माका तो कुछ नाम ही नहीं है। सभी लोग दीन बनकर दुःखी हो रहे हैं। दुःखी नहीं हैं, पर कल्पनायें करते हैं, इच्छा करते हैं और खुद दुःखी बनते हैं। इच्छा बढ़ती और दुःखी होते। मनुष्य जन्म पाकर कर्तव्य तो यह है कि अगर वैभव पुण्यके उदयसे आता है तो आने दो, मगर अन्तरंगमें चाह न करें कि मुझे वैभव चाहिए, क्योंकि उस वैभवसे कुछ लाभ नहीं है। दुनिया केवल दुनियावी लाभको लाभ मानती है, लेकिन उससे लाभकी बात न मानें। उससे इस जीवको मिलता क्या है? आज जीव मनुष्यभवमें है, कल मरण करके अन्य भवमें पहुंच गया तो फिर इस दुनियावी लाभसे क्या लाभ रहा? राजा भी मरकर कीड़ा हो सकता है। मुनिव्रत धारण करके कोई खोटी गति भी पा सकता है। जहां इतना हेर फेर चल रहा है ऐसे विकट संसारमें किसी परद्रव्यकी कुछ भी आशा रखना इससे आत्माका घात है। परद्रव्योंकी उपेक्षा करके अपने आपके आत्मामें लगन बनाना इससे आत्माकी रक्षा है। इस जगतमें कोई किसीका सगा नहीं। किसीकी आशा रखना व्यर्थ है। यह मेरा है, यह गैर है यह मानना बड़े अज्ञानताकी बात है। अरे जैसे जीव दुनियाके हैं, वैसे ही तो ये घरके लोग हैं। इन अनन्त जीवोंमें से कोई भी प्राणी आपके घरमें आ गए और वे अत्यल्प समयको, उनसे क्या आशा की जाये।

बाह्यमें सारका अभाव—इस जगतमें सारका नाम नहीं है। सार अगर होता तो ये बड़े बड़े पुरुष चक्रवर्ती तीर्थंकर इस वैभवको त्यागकर अकेले क्यों बनमें तपश्चरण करते? पूर्वकालमें नेमिनाथ स्वामी की बात है जिनके क्षेत्र पर अपन सब लोग बैठे हैं। इस जंगलको और इस पर्वतको देखकर ऐसा लगता है कि सब दृश्य सामने नजर आता है। नेमिनाथ स्वामी बरातमें सजकर जूनागढ़के निकट पहुंचे। पशुवोंकी पुकार सुनकर चित्तमें वैराग्य जगा। बतावो इतनी बड़ी बरात सजकर आयी और चित्त बदल जानेसे अपना स्वभावपरिणमन कर लिया और पहाड़ पर जा चढ़े। दर्शक लोग बड़ी कठिनाईसे चढ़ते हैं उतरते हैं, इतना श्रम करते हैं वहां जाकर। जा चढ़े तो कोई बात तो थी चित्तमें, कोई वैभव पाया था जिसके सामने इस लोकके वैभवको न कुछ समझा था। सच जानों कि किसीसे कुछ न चाहिये और अपने आपके आत्मामें अपने प्रभुके दर्शन करके खुश रहना, इसमें मनुष्य जीवनकी सफलता है। बाहरमें किसीके आश्रय और शरणमें इस आत्माको कुछ नहीं प्राप्त होता। सम्यग्दर्शनके अंगोंमें प्रथम अंगका नाम है निःशंकित अंग। इहलोककी शंका न करना कि मेरा कैसे गुजारा हो, क्या हो, जो हो सो हो। हमारा आत्मा तो इस अपने आत्माके चैतन्य रसका पान किया करे तो उससे तृप्ति है, भोगविषयोंसे तृप्ति नहीं है। इस वैभवसे, ठाठबाठसे इस आत्माको तृप्ति नही हो सकती। जो तृप्तिका कारण बने, अपने आपके आत्माके दर्शन

का कारण बने उसका उद्यम करें। ज्ञान करनेके लिए जब चिंतन मनन करें आत्मा का तो चाहे कैसे ही आसनसे बैठे हों टेढ़े मेढ़े; जब जब चिंतनको मन लगे कि मैं आत्माका चिंतन करूं, मैं क्या हूं और सबसे चित्त हटाकर केवल अपने आपके आत्मामें चित्तको भाऊं तो प्रथम तो नयन बन्द करके रहना चाहिये, क्योंकि नेत्र खुले हुएमें सामनेकी चीज चित्तमें बैठती है। नेत्र बन्द करके अपने आपके भीतर अपने उपयोगको ले जायें, बाहर में सबकी छोड़ है। अपने आपके आत्मतत्त्वमें लगें ऐसी दृष्टि करके रहें तो आत्मा अपने आपमें इस समवशरणके (उत्तम पूर्ण शरणके) दर्शन कर सकता है और वहां जो तृप्ति मिलेगी वह जगतके किसी कोनेमें किसी पदार्थको न मिलेगी।

ज्ञानीका इहलोकनिर्भयताका विचार—निःशंकित अंकमें प्रथम बात बताई गई है कि इहलोकमें ज्ञानी को शंका नहीं रहती है। ज्ञानी जानता है कि मेरा जो तत्त्वस्वरूप है, आत्मा के प्रदेश हैं वही मेरे लिये मेरी दुनिया है। इससे बाहर मेरी दुनिया नहीं है और यह मैं अविनाशी हूं। मान लो घात हो गया, मरण हो गया, शरीर अलग हो गया तो आत्मा कहां जायेगा, वह तो अविनाशी है। एक वैज्ञानिक सिद्धांत है कि जो जो भी चीजें हैं वे कभी समूल नष्ट नहीं हो सकती। नष्ट कैसे हो जायें? चीज है तो वह रहेगी, चाहे किसी हालत में रहे, कोई अवस्था बने, पर चीज सदा रहेगी। मैं भी एक सत हूं, सुख दुःखकी कल्पनायें उठती हैं, आधारभूत कुछ तत्त्व तो है। है अमूर्त और रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे रहित, लेकिन कोई आधारभूत चीज है तो अवश्य, जिसके सुख दुःख ज्ञान आनन्द राग दोष सब बातें जिसमें परिणमती रहती हैं, ऐसा कोई सत् है और जब सत् है तो उसका कभी विनाश नहीं होता। जब नाश न होगा तो शंका क्या? किसी न किसी हाल में रहेगा। रही दु खकी बात तो जब हम परद्रव्योंमें दृष्टि लगायेंगे तो वहां दुःख जरूरी है। चाहे बड़े से बड़ा चक्रवर्ती भी हो, परद्रव्योंमें दृष्टि लगी है वहां क्लेश जरूरी है, क्योंकि सबसे पहिले तो इस जीवने अपने उपयोग को अपनेसे हटाकर रीता बना दिया है तो अब यह बाहर में दरदर डोलता रहता है। बाहरकी चीज हैं विनाशीक। अपने अनुकूल रहने वाली नहीं हैं। तो वे पदार्थ डावांडोल होते हैं तो यह उपयोग भी उनके साथ डावांडोल होता है, तकलीफ पाता है, दुःखी होता है।

प्रभुशरणग्रहणका प्रयोजन—दुःखोंसे बचनेके लिए हम जितेन्द्रदेवकी भक्तिकी शरणमें आए हैं। जितेन्द्र-देवकी भक्तिके प्रसादसे सारे संकट टलते हैं इसमें रंच भी सन्देह नहीं। निष्कपट भक्ति हो तो संसार के विषयोंके दुःख रंच भी नहीं रहते। वीकराग सर्वज्ञ निर्दोष ऐसे उस परमात्माके गुणों का चिन्तन करके भक्ति उत्पन्न होती है और उस भक्तिमें अपने आपके स्वरूपका भी स्पर्श होता है, क्योंकि जो प्रभुका स्वरूप है सो मेरा स्वरूप है। हमारा और प्रभुका स्वरूप मूलमें एक है। जैसे स्वर्ण चाहे धूलसे लिप्त हो चाहे साफ हो, चीज एक है, उसके कितने ही प्रकार के आभूषण बना लो, स्वर्णत्व तो सब सोने में एक है। आखिर स्वर्ण जाति तो एक है। तो स्वर्ण जातिकी अपेक्षा जैसे सब स्वर्ण एक हैं ऐसे ही चैतन्य जातिकी अपेक्षा हम आप प्रभु सब एक है। पर्यायकृत अन्तर पड़ गया। वह अन्तर हमारा मिट सकता है। हम अपनी ओर आयें। और अपनी ओर जो आता है उसको जगतमें सब जगह एक समान नजर आता है। वहां यह भेद न करना कि यह तो मेरा है और यह पराया है। व्यवस्थाकी बात और है। घर में रहते हैं तो हम चार प्राणियों की व्यवस्था ही कर सकते हैं। सारे जगतकी व्यवस्था हम नहीं बना सकते। चूंकि हमारे भी खाने पीने पहिनने ओढ़नेका काम बनता है, हम सुखमें रहते हैं, इस वजह से हम परिवारका ख्याल रखते हैं, मगर समझें कि ये भी जीव उतने ही न्यारे हैं जितने कि दुनिया के अन्य जीव हैं। ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये। यहां तो एक तरहका काम करना पड़ा है कि घरमें रहते हैं, सेवा करते हैं, पर ध्यान यह रहे कि सब जीव एक समान हैं। मौका पड़े गैर भी दुःखी नजर आयें तो उनको भी हमारा तन मन धन वचन लग सकता है। इतना परिणाम होना चाहिए।

ज्ञानीको आत्मप्रीतिमें निःशङ्कता—*निःशंकित अंगमें बतला रहे कि ज्ञानी पुरुषकी ऐसी भावना रहती है कि चाहे आजीविकाका साधन न रहे, पर हमारी जितेन्द्र भगवानकी शरण न छूटे, नहीं तो हम अशान्त हो*

जायेंगे । वैभव घट जायेगा तो क्या है ? क्योंकि आत्मा में शान्ति तो ज्ञानसे मिलती है वैभव से नहीं। कितना ही घबड़ाया हुआ पुरुष हो, उसे यथार्थ ज्ञान की बात समझनेको मिल जाये तो सब दुःख दूर हो जाते हैं और कितने ही अच्छे समागम मिल जायें, पर बुद्धि उल्टी हो जाए तो वह दुःखी रहता है। तो ज्ञानीकी एक ही भावना रहती है कि मेरी जिनधर्मकी शरण बनी रहे। दर्शन करते समय यह ज्ञानी कहता है कि मैं चाहे किसीका सेवक बन लूंगा। मगर जिनेन्द्रदेव के धर्ममें मेरा चित्त बसा रहे यह मैं चाहता हूं। और जिनधर्मको छोड़कर मैं चक्रवर्ती भी नहीं रहना चाहता, क्योंकि भगवानने अपनी दिव्यध्वनिमें जो एक अमृतकी वर्षाकी है उसमें अमृत ही अमृत भरा है। वस्तुके के सही स्वरूपका वर्णन जो किया है वह एक अनुपम वर्णन है। क्या कोई पदार्थको हाथमें लेकर बता सकता है, सिद्ध कर सकता है कि इसमें यह उत्पाद है, यह व्यय है, यह ध्रौव्य है। प्रत्येक पदार्थ न्यारे-न्यारे हैं। सही बात हाथ में रखकर समझें तो इतना स्पष्ट जैनधर्म है जहां किसी ने भी ऐसी कल्पना नहीं की। किसीने बताया कि अमुक ने उत्पत्ति की, अमुक ने नाश किया व अमुकने रक्षा की, किसीने कुछ कहा किसीने कुछ। सीधीसी बात यह है कि जैनधर्ममें वस्तुके स्वरूपको खोल करके समझाया गया है। तो इस जिनधर्मकी शरण से रहित होकर कुछ भी लोकमें कल्पित बन जाए वह बेकार है और इस धर्मका शरण मिले तो अपने लिए सब कुछ है।

श्रद्धानपूर्वक ज्ञान और श्रद्धानपूर्वभावी ज्ञानमें अन्तर—श्रद्धान और साधारण ज्ञान—इन दोनों का अन्तर समझनेके लिये एक दृष्टान्त देते हैं। जैसे बाहुबलि स्वामीकी यात्रामें सब लोग जा रहे हैं। इसमें अनेक पुरुष ऐसे हैं, जिन्होंने बाहुबलि स्वामीकी मूर्तिको श्रवणबेलगोल में नहीं देखा। सुन रखा है अथवा पुस्तकों में पढ़ रखा है कि ऐसी प्रतिमा है, इतने फुट ऊंची है, इतने लम्बे हाथ पैर तथा अंगुलियां हैं, यों सुन रखा है और अब वहां जाकर प्रत्यक्ष उस मूर्तिको देखेंगे तो इन दोनों ज्ञानोंमें अन्तर न रहेगा ना ? वहां प्रतिमा के देखने पर चित्तमें बैठ जाता है कि यही है वह प्रतिमा जिसके विषयमें सुन रखा था अथवा समझ रखा था। इस प्रकारका स्पष्ट व दृढ़ विज्ञान होता है। पुद्गल जड़ है, आत्मा चेतन है, आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। गुणपर्याय सब कुछ चर्चा की तो ज्ञान तो हो गया, मगर परपदार्थसे उपेक्षा बनाकर जो अपने आपमें एक सहजविश्राम होता है, कुछ भी चिन्तन न रहे, कुछ भी बाह्य विकल्प न रहें, उस समय जो आत्मामें एक अनुभव जगता है, आनन्दानुभूति होती है, केवल ज्ञानप्रकाशमात्र ही अनुभवमें रहता है, उसे कहते हैं आत्माकी अनुभूति और उस अत्मा-नुभूतिके बाद फिर जो ज्ञान चलता है, यह पद्गल है, जड़ है, भिन्न है। तो इस ज्ञानमें मजबूती अधिक है। तो आत्मानुभूति सहित भेदविज्ञान आये, उसकी मजबूती और है और आत्मानुभूतिके बिना जो ज्ञान चलता है उस ज्ञान की बात और है। भेदविज्ञानमें जिस चीजसे जिस चीजको न्यारा समझना चाहते हैं उतने ज्ञानमें वे दोनों ही प्रतिभास स्पष्ट हुये तब तो भेदविज्ञान सही है। उसमें जड़का परिचय तो हमें खूब है और चर्चा आत्माकी करते हैं मगर परिचय नहीं हो पाता। तो दोनों का परिचय हो तबका भेदविज्ञान सही भेदविज्ञान है। उनमें से एकता तो परिचय है और दूसरे का अनुमानसा है। तो वह भेदविज्ञान इतनी दृढ़ता नहीं रखता। तो कोशिश यह करनी चाहिये कि हमारे आत्माका अनुभव जगे इस ओर बहुत अधिक ध्यान देना चाहिये और उसके लिये समय निकालें। स्वाध्यायमें, ज्ञान-चर्चावोंमें अधिक अपना उपयोग लगायें, बाह्यपदार्थोंमें चित्त न फंसायें, मेरे मनमें कोई बाह्यपदार्थ न आयें ऐसी कोशिश करनी चाहिये। ये सर्वबाह्यपदार्थ असार हैं, आफतमें डालने वाले हैं इनसे हटें। वे सब विडम्बनारूप हैं, उनसे हमारा कुछ भी हित नहीं है। इनको तीर्थंकरोंने यों त्यागा जैसे बनारसीदासजी कहते हैं कि कोई नाक सिनक दे।

आत्मानुभवनमें ही आत्मरक्षा—मैं इस आत्माकी रक्षा करने बैठा हूं। मैं अपने आत्माका घात न करूंगा। ये बाह्यपदार्थ हमारे चित्तमें न आने पायें ऐसा करनेमें ही लाभ है। विशेष सोचनेकी जरूरत नहीं है, किन्तु

बाह्यपदार्थ उपयोगमें न आयें तो अपने ही आप अपने ही भीतर ऐसेज्ञानप्रकाशका अनुभव जगता है और अलौकिक आनन्द जगता है कि वह बात एक बार हो जाए तो समझो कि जीवन सफल है। उसके ही लिये हमारा यत्न चले। वह यत्न तब चल सकता है जब पहिले निःशंकता आए। मेरा कहीं बिगाड़ नहीं है। मेरी दुनिया इतनी ही है। मेरा कहीं बिगाड़ नहीं। कैसा ही कानून बने। यही होगा कि कुछ समागम कम रहेगा। जिस पुण्यके उदयमें हम मनुष्य हुए, श्रावककुल में उत्पन्न हुए उस पुण्यके उदयसे जो आना हो आये अथवा जाए, हमें तो किसी भी परसे कुछ प्रयोजन नहीं। हमें तो धर्मका शरण चाहिये। जो धर्मकी छायामें रहता है, जितेन्द्रकी भक्ति में रहता है उसे कोई सता नहीं सकता। धनंजयसे कविने कहा कि हे नाथ! मैंने आपकी स्तुति की, पर उसके एवजमें मैं आपसे मांगता कुछ नहीं। कोई कह बैठे की मांगते नहीं तो फिर आए क्यों हो? तो कहते हैं कि हम संसार के दुःखोंसे तप्तायमान थे सो आपके गुणोंके स्मरणकी छायामें आकर बैठ गए। हम मांगते कुछ नहीं आपसे। जैसे वृक्षके नीचे छायामें कोई पुरुष बैठा हो और वह वहां वृक्षसे कहे कि मुझे छाया दो, मेरा दुःख हरो तो वह बेवकूफी ही है। तो हे नाथ! आपकी छत्रछाया में मैं बैठा हूं। अब आपसे मैं क्या याचना करू कि मेरा दुःख हरो। जब भगवानके स्मरणकी छाया में मैं बैठा हूं तो उनसे मुझे कुछ न चाहिये। संसारके दुःखोंसे छूटनेके अर्थ प्रभुकी शरणमें पहुंचें, जितेन्द्रदेवकी अपूर्व भक्ति करें तो उसमें अपने आत्मा का स्पर्श होता है और अनुभवका भी समय मिलता है। एक बार आत्मानुभव हो जाये तो समझ लीजिये कि हमारा जीवन सफल है।

इहलोकभयकी भांति ज्ञानिके परलोकभयका भी अभाव—सम्यग्दर्शनके ८ अंग होते हैं, उनमें पहिले अंगका नाम है निःशंकित अंग। समस्त वस्तुवें अनेकान्तात्मक हैं ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है। वह सत्य है या असत्य इस प्रकारकी शंका न होना सो निःशंकित अंग है। इसके और अन्तरंगमें चलें तो ८ भयोंसे रहित होना सो निःशंकित अंग है। प्रथम तो भय है इहलोकभय। अब मेरा कैसे गुजारा होगा? इस प्रकारकी शंका नहीं होती ज्ञानीकें? क्यों नहीं होती? यह दृढ़निश्चय है कि मैं एक सद्भूत वस्तु हूँ तो मैं रहूंगा ही। मेरे गुजारेका क्या संदेह? दुनियासे कुछ कामना नहीं है, नाम संमान तो मुझे कोई कामना नहीं है। किसी भी परवस्तुसे अपना सुधार बिगाड़ होता नहीं है। अपने आपका आत्मतत्व अपनी दृष्टिमें है। तब मुझे कोई शंका नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी जीवको परलोकका भी भय नहीं रहता। हाय! परलोकमें क्या होगा, हमको स्वर्ग मिले, कहीं खोटी गति न मिले, कहीं खोटे भव न मिल जाये, फिर क्या होगा? इन सूकरोंको, गधोंको, कुत्ते को देखो, कितना दुतकारे जाते हैं, कितने कष्टमें वे हैं? कहीं ऐसी कोई खोटी गति न मिल जाए इस तरहका भय नहीं होता, उसका कारण यह है कि जिसका आचार विचार पवित्र है, जो सम्यक्त्वसे विभूषित है उसको खोटे भवका संदेह क्यों होगा? जो हीन आचरण वाले हैं तो अपने हीन आचरणकी याद कर करके संदेह करने लगते हैं कि कहीं कोई खोटा भव न मिल जाए। दूसरी बात यह है कि परलोक कहीं बाहर नहीं है ज्ञानीकी दृष्टिमें। इस लोकमें मेरा जो स्वरूप है वह मेरे लिए है। तो परलोकमें भी जो यह मेरा स्वरूप है वह मेरा परलोक है। यों अपने आपके स्वरूपको ही अपना क्षेत्र मानने वाले सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष जिसे इहलोकका भय नही है वह परलोकका भी भय नहीं रखता।

परलोकभयके अभावके प्रसंगमें एक कथन—एक कथन है कि किसी तीर्थंकरके समवशरणमें एक श्रावक जा रहा था। उस श्रावकको एक मुनिराजके प्रति बड़ा धर्मानुराग था। रास्तेमें वह मुनि मिले और बैठे हुए थे पलासके पेड़के नीचे। छेवलाके पेड़के नीचे जहां बहुत कम पत्ते होते हैं वहांसे श्रावक निकला तो मुनिराजने श्रावकसे कहा कि तुम भगवानके समवशरणमें जा रहे हो, जरा हमारे सम्बन्धमें यह बात भी पूछ लेना कि इस मुनिराजके कितने भव शेष रह गए हैं अर्थात् कितने भवोंके बाद मुक्ति होगी? श्रावक पहुंचा, वहां प्रश्न किया तो उत्तर मिला कि जिस पेड़के नीचे मुनि बैठा है उस पेड़में जितने पत्ते हैं उतने भव शेष हैं इसके बाद मोक्ष होगा।

वह श्रावक जब लौटने लगा तो बड़ा खुश हुआ कि अब मुनिराजके थोड़े भव शेष रह गए। करीब ५० पत्ते होंगे। वह बड़ा खुश हुआ और आकर जब देखा कि वह मुनि महाराज तो इमलीके पेड़के नीचे बैठे हैं, यह देखकर श्रावक बड़ा दुःखी हुआ। जब मुनिने पूछा कि ऐ श्रावक! क्या बात है? तो माथा ठोककर श्रावक बोला कि महाराज! जबाब तो बड़ा अच्छा मिला था कि जिस पेड़के नीचे मुनिराज बैठे हैं उसमें जितने पत्ते हैं उतने भव शेष हैं, पर आप तो इमलीके पेड़के नीचे हैं, इसमें पत्तोंका क्या शुमार? तो मुनि बोला कि इसमें भी घबड़ानेकी कोई बात नहीं है, आखिर इन पत्तोंका भी अन्त है। संसारमें तो ऐसे जीव हैं कि जिनके भवोंका अन्त ही न होगा। ज्ञानी पुरुषोंको परभवका भी खेद नहीं रहता, उन्हें तो सिर्फ इसमें तृप्ति है कि वर्तमानमें अपने उस विशुद्ध चैतन्यरसकी दृष्टि बनी रहे, उस चैतन्यस्मृतिका पान बना रहे, यह उनका यत्न है, ऐसी ही उनकी भावना है।

ज्ञानीके वेदनाभयका अभाव—ज्ञानी पुरुषको वेदनाका भी भय नहीं है। शरीरमें कोई वेदना हो तो जिस शरीरमें जैसी ममता है उसको वैसी वेदना होती है। शरीरसे ज्ञानी पुरुष अपना हित मानते नहीं, बल्कि अपने घातका कारण समझते हैं। न होता शरीर तो आत्मा कितने आनन्दमें रहता? इस शरीरके सम्बन्धसे तो आत्मा विपत्तिमें पड़ा है। कोई शरीर आत्माका मित्र नहीं है। यह तो विपदाका कारण है। ज्ञानी पुरुष समझते हैं कि हमारी आत्मा इस शरीरमें फंसा है, इतनो भर वेदना है, इसके आगे इस मुझ आत्मामें कोई वेदना नहीं है। शरीर की वेदना देखकर अज्ञानी जीव घबड़ा जाते हैं। हाय! अब क्या होगा, अभी कितनी सर्दी अथवा गर्मी बढ़ेगी? यह दृष्टि होनेसे उसको बड़ी वेदना रहती है, पर ज्ञानी जीवको वेदना नहीं रहती। तो शारीरिक वेदनाका भी भय ज्ञानी पुरुष नहीं मानता। यही है उसका ज्ञानीपना।

वेदनाशंकाके अभावके प्रसंगमें एक उदाहरण—एक सनतकुमार चक्रवर्ती हुए हैं। वे रूपमें इतने सुन्दर थे कि उनकी चर्चा स्वर्गोंमें होने लगी कि इस समय मनुष्य-लोकमें सनतकुमारसे बढ़कर और किसीका रूप नहीं है। अतः दो देव परीक्षा करने आये। उन्होंने सनतकुमारको कभी नहीं देखा था। सनतकुमार उस समय अखाड़ेमें कुश्ती लड़कर धूलसे भरे हुए वैसे ही शरीरसे बैठे थे। दोनों देवोंने देखा तो वे आश्चर्य करने लगे कितनी विशिष्ट इनकी सुन्दरता है? जब दोनों देव सनतकुमारकी सुन्दरता पर आश्चर्यचकित थे, तब एक-दो मनुष्योंने कहा कि तुम अभी इनका रूप क्या देखते हो? जब दरबार लगेगा, शृङ्गार कर के ये सिंहासन पर विराजेंगे तब इनका रूप देखना। दोनों देव फिर दो बजे दोपहरमें आये जबकि दरबार लगा हुआ था। उस समय सनतकुमारके उस रूपको देखकर देवोंने माथा धुना। लोगोंने कहा कि क्यों माथा धुनते हो? वे देव कहते हैं कि अब वह रूप नहीं रहा। लोगोंने पूछा कि कैसे नहीं रहा वह रूप? देवोंने एक बात तो यह बताई कि बिना बने-ठने और बिना सावधानीके अपने आप जो रूपमें सुन्दरता होती है, वह बनने-ठननेमें नहीं होती है। उन्होंने यह बतानेके लिए कि उसकी सुन्दरता विशेष होती है, जो बिना बने-ठने रहें, बनने-ठननेमें सुन्दरता नहीं रहती। दूसरी बात यह बताई है कि ज्यों-ज्यों समय गुजरता है त्यों-त्यों रूप, यौवन सब ढलते जाते हैं। तत्काल नहीं पता पड़ता, पर महीनों, वर्षों देखने पर पता पड़ता है। देवोंने एक पानीसे भरी गगरी मंगायी, जो खूब लबालब भरी थी। उसमें एक सींक डूबो कर निकाल ली और एक बूंद अलग टपका दी और पूछा कि बतावो इस गगरीमें पानी कम हुआ या नहीं? तो दिखनेमें कम नहीं लगता, पर कम तो हुआ ही। यों ही यह रूप क्षण-क्षण क्षीण होता जाता है। कुछ समय बाद सनतकुमार विरक्त हुए, मुनि हो गये, पूर्वकृतकर्मका ऐसा उदय आया कि भव-भवमें बांधे हुए कर्मोंका कि उनके शरीरमें कुष्ठ फैल गया। फिर देव परीक्षा लेने आया वैद्यका रूप धरकर और सारेमें फिरने लगा। वैद्य पुकारता जाता कि मेरे पास बड़ी अच्छी-अच्छी औषधियां हैं, चाहे जो रोग हो ठीक हो जाता है। सनतकुमारने कहा कि तुम हमारे सामने बार-बार क्यों चल रहे हो? कहा कि हे महाराज! हम बहुत सुन्दर औषधि द्वारा उपचार करते हैं, हम चाहते हैं कि आपके रोगकी दवा हो जाए। तो सनतकुमार बोले कि हमारे तो इस जन्म-मरणका बड़ा विकट रोग लगा है इसे

दूर कर दो। तो ज्ञानी पुरुष इस शारीरिक वेदनाको वेदना नहीं समझते, किन्तु आत्माकी पवित्रता न रहे, खोटे परिणाम हों तो इसे वे बहुत बड़ी विडम्बना समझते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषके वेदनाका भय भी नहीं रहता।

ज्ञानीके अरक्षाभयका अभाव—चौथा भय है अरक्षाभय। रक्षा सम्बन्धी भय बनाना सो अरक्षाभय है। ज्ञानी पुरुष अरक्षाका भी भय नहीं मानता। वह जानता है कि जो सत् है, अस्तित्व रखता है उस पदार्थका कभी विनाश नहीं होता। रहता ही है। भले ही पानीका हवा और हवाका पानी बन जाए, पर कोई भी वस्तु मूलसे नष्ट हो जाए ऐसा नहीं किया जा सकता। ज्ञानी चिंतन करता है कि मैं एक सत् वस्तु हूं। अतएव अनन्तकाल तक रहूंगा, सदा रहूंगा, मेरा विनाश नहीं होता। मेरी अरक्षा कहां है? यहां तो ममता के कारण अनुकूल बात न होनेसे अपनी अरक्षा समझ बैठते हैं। यहां अरक्षित कोई नहीं है, सब स्वरक्षित हैं। अपने से बाहरकी बातपर कोई दृष्टि दी और वह अनुकूल न जंची, उसी पर झगड़ने लगे तो यह तो उसकी कल्पनाकी बात है। जिस चाहे प्रसंगमें अपनेको अरक्षित समझने लगे, पर स्वरूपको देखो तो यह मैं आत्मा कभी भी रक्षारहित नहीं होता। सदा स्वरक्षित हूं, इसमें किसी भी अन्य पदार्थका प्रवेश नहीं है। ज्ञानी जीवको अरक्षाका भी भय नहीं है।

ज्ञानीके अगुप्तिभयका अभाव—एक भय लोगोंके लगा रहता है अगुप्ति भय। मेरे घरके किवाड़ मजबूत नहीं हैं। दो मंजिल हैं तो क्या हुआ लोग यों भी चढ़ सकते हैं, यों सोचकर लोग भय करने लगते हैं और ज्ञानी जीव सोचता है कि मेरे स्वरूपका किला यद्यपि मैं अमूर्त चैतन्यमात्र वस्तु हूं, पर वस्तुका नियम है कि किसी भी वस्तुमें किसी अन्य वस्तु का प्रवेश नहीं होता। यह चैतन्यस्वरूप यह मेरा दुर्ग इतना दृढ़ है कि इस स्वरूपमें किसी परपदार्थका प्रवेश नहीं होता, इसलिए मैं स्वरक्षित हूं। किसी ने गाली बकी तो मुझमें कहां घुस गई गाली? इसका तो उसमें ही परिणमन हो गया। वैभव गिर गया तो क्या हुआ? जो होना था सो हुआ। मेरेमें कुछ नहीं हुआ और उसके प्रति ममता हो तो ममता के कारण वह दुःखी हो गया। वहाँ मेरेमें किसी परका आक्रमण हो, कोई परपदार्थ प्रवेश करे, ऐसा नहीं होता। मैं ही अपने प्रदेशोंमें रहकर अपने ही ज्ञानविज्ञानसे कल्पनाएं बनाये रहता हूँ।

ज्ञानीके मरणभयका अभाव—एक भय संसारी जीवोंमें लगा रहता है मरणका। देखिये मरणका भय उन जीवोंके होता है जिनके मूर्छा ममता ममत्व लगा है। हाय! हमने लाखोंका वैभव जोड़ा और अब यह छूटा जा रहा है, ऐसी कल्पना उठती है तो उस ममताके कारण इसको क्लेश होता है, पर ज्ञानी जीव को परपदार्थोंमें ममता नहीं है, वह तो अपने आपमें अपने स्वरूप को निहार कर अपने चैतन्यरससे तृप्त रहता है। और रही मरणकी बात तो यह एक शरीर छूट गया, नई जगह पहुंच गया। मैं तो वही का वही हूं। जैसे कोई पुरुष नया मकान बनाये और पुराने मकानको छोड़कर नये मकानमें पहुंच गया, ऐसी ही इस आत्माकी बात है। ज्ञानी पुरुषके मरणके समय भी शंका नहीं रहती। वह अपने स्वरूपकी वास्तविक संभाल बनाये रहता है। ये सब बातें अपने कामकी हैं, अपने पर घटाना है, जिससे अपनेको अशान्ति न आये, ऐसा ज्ञान करना अपना परमकर्तव्य है। प्रत्येक वस्तु जुदी जुदी हैं, किसीका किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं हैं। सब अपने-अपने उत्पाद व्यय-ध्रौव्यसे रहा करते हैं, अतएव मेरा किसीसे सम्बन्ध नहीं है। मैं मैं ही हूं, पर पर ही हैं, यों ज्ञान करके अपने स्वरूप में लीन होने का यत्न रहता है ज्ञानी पुरुष के। उसे किसी प्रकारकी शंका नहीं रहती। मरणभय अज्ञानियोंको सताता है, हाय! मैं मरा, मेरा लड़का छूटा, मेरे नाती पोते छूटे। कितने आरामका घर बनाया था, कितनी घबड़ाहट की स्थिति है उस समय अज्ञानीके लिए। पर ज्ञानी जीव सोचता है कि मरण क्या? मैं तो यहां हूँ, लो यहांसे दूसरी जगह चला। मेरा तो अन्य कुछ था न ही न हो सकता है। मैं ही अपने स्वरूपमें सदा परिणमता रहता हूं, ऐसे जाननहार योगी पुरुषको मरणका खेद नहीं रहता है।

ज्ञानीके आकस्मिक भयका अभाव—एक भय होता है आकस्मिकभय। ऊटपटांग कल्पनाएं करनेका भय है। कहीं ऐसा न हो कि बिजली तड़क जाय और मैं गुजर जाऊं। कहीं छत न गिर जाये और मैं मर जाऊं। कहीं बैंक न फेल हो जावे कि मेरे १० लाख रुपये चले जायें, यों लोग शंकाएं बना लेते हैं ऐसा भय बना लेते हैं अज्ञानी पुरुष। ज्ञानी पुरुषोंको इस प्रकारका भय नहीं होता। वे जानते हैं कि किसी भी अन्य पदार्थसे मेरेमें कोई बाधा हो ही नहीं सकती। मैं ही अपना स्वरूप खोकर अपना ही ज्ञान और तरहका बनाकर खेदखिन्न होऊं, पर किसी अन्य पदार्थमें यह सामर्थ्य नहीं कि मुझे खेद उत्पन्न कर सके। इस ज्ञानी जीवके आकस्मिक भय नहीं होता। यों ७ प्रकारके भयोंसे रहित ज्ञानी पुरुष होता है। आत्मस्वरूपमें किसी प्रकारकी शंका न होना सो निःशंकित अंग है। यह मैं चैतन्यरससे भरपूर आत्मतत्त्व हूं, कारणसमयसार हूं, जिसका आश्रय लेकर संसारके संकटोंको त्यागकर मैं मुक्त होऊंगा। यों आत्मस्वरूपमें शंका न होना सो निःशंकित अंग है। कैसा भी वज्रपात हो जिसमें अनेक लोग अपना मार्ग छोड़ भाग जायें ऐसे वज्रपातके समय भी सम्यग्दृष्टि पुरुष शंकित नहीं रहते, सदा निःशंक रहते हैं। जब जो होना है होता है उससे मेरेको क्या है? मेरा परिणाम अपवित्र रहे, धर्मका सम्बन्ध छूट जाय तो उसमें अकल्याण है। यों सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी प्रकारकी शंका नहीं रखता, सो यह है उसका निःशंकित अंग। अब दूसरा अंग है निःकांक्षित अंग।

> इह जन्मनि विभववादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
> एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥२४॥

वैभवकीअनाकांक्ष्यता—इस लोकमें ऐश्वर्य सम्पदा आदिको और परलोकमें नारायण आदिक पदोंको और अन्य धर्मोंको किसीको चाहना, यह है दोष और इनकी चाह न करना सो निःकांक्षित अंग है। ज्ञानी जीव वर्तमान वैभवके समागम को विडम्बना मानता है, वह आगामी कालके लिए वैभव की क्या कामना करे? एक कथानक है कि दो भाई बाहर व्यापार करने गये, समुद्रके पार किसी द्वीप में। वहां दो चार वर्षमें वे बड़े ऊंचे लखपति हो गए। जब घर आने लगे तो सोचा कि सब जायदादको बेचकर दो रत्न कीमती ले लिए जायें ताकि परिग्रह न लादना पड़े। बड़े भाई ने दोनों रत्न अपने पास रख लिये और दोनों साथ-साथ चल पड़े। समुद्री रास्ता था। १ समुद्री जहाज पर दोनों बैठ गए। जब जहाज कुछ आगे बढ़ा तो बड़े भाई के मनमें आया कि रत्न अब छोटे भाईको क्यों दें तो ये दोनों रत्न मेरे हो जायेंगे। यह सोचते ही उसके बड़ा पछतावा आया और कहने लगा—भाई ये रत्न बड़े खराब हैं जिनके कारण ऐसे खोटे भाव हुए। इन रत्नोंको तुम अपने पास रख लो। जब छोटे भाई से उन रत्नोंको अपने पास रख लिया तो कुछ देर बादमें उसके भी मनमें आया कि ये लाखों रुपये के रत्न हमने अपनी बुद्धिसे कमाये हैं, घर जाने पर बंट जायेंगे। सो ऐसा करें कि भाईको समुद्रमें ढकेल दें और भाई के मर जाने पर ये दोनों रत्न हमें मिल जायेंगे। थोड़ी देरमें वह भी संभला और अपने को धिक्कारा। उसने भी उन रत्नोंको अपने पास रखने के लिए मना कर दिया। खैर, किसी तरहसे वे दोनों रत्न लेकर घर पहुंचे तो उन्हें अपनी मां के पास रख दिया। मां सोचती है कि ये रत्न बड़े कीमती हैं, ऐसा करें कि इन लड़कोंको विष खिलाकर मार दें तो ये रत्न हमें मिल जायेंगे। इतने में झट वह भी संभली और अपनी बेवकूफी पर धिक्कारा। बाद में वे दोनों बहिनके पास रख दिये। बहिनने भी उसी प्रकारसे अपने भाव खराब कर लिए। सबने अपनी-अपनी बात बताई। आखिर यह तय हुआ कि इन दोनों रत्नोंको समुद्रमें फेंक दिया जाये, जब वे रत्न समुद्र में फेंक दिये गए तब सबको शान्ति मिली, तो जो ज्ञानी पुरुष हैं वे लौकिक वैभवकी चाह नहीं करते हैं। उनकी यह भावना रहती है कि जिस सम्पदाको बड़े-बड़े चक्रवर्ती असार समझकर त्याग गए ऐसी सम्पदाकी मुझे कुछ चाह नहीं है। यों दो अंग बताए गए निःशंकित और निःकांक्षित। उदाहरणमें यों समझिये कि मनुष्य जब आगे कदम धरता है तो कितने उत्साहसे आगेका पैर रखता है और पीछेका पैर बड़ी उपेक्षासे हटाता है। तो जैसे अगला पैर निःशंकित की निशानी है और पीछेको निःकांक्ष होकर हटाता है। यों सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष मोक्षमार्गमें अपने को बढ़ाये चला जा रहा है। हमें भी इन दो गुणोंकी ओर दृष्टि देना चाहिए कि हम अपने

स्वरूपको पहिचानें और बाह्य पदार्थोंका कुछ भी ध्यान न करें, इससे मेरे आत्माका कुछ भी लाभ नहीं है। परसे उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूपमें लीन होनेका जो प्रयत्न करते हैं वे भव्य पुरुष निकट कालमें मुक्तिको प्राप्त करेंगे।

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

ज्ञानीकी निर्विचिकित्सता—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ग्लानिरहित होते हैं। ग्लानिका अर्थ ग्लानि करना भी है, खेदखिन्न होना भी है। जैसे किसी भी पुरुषको किसी वस्तुसे ग्लानि होती है तो वहां उसे ग्लानि ही तो होती है। रास्तेमें चले जा रहे हैं, कोई कूड़ा करकट या विष्टा मिला। उसे देखकर जो ज्ञान करते हैं वह खेद खिन्नता ही तो होती है। दुःखी होकर, ग्लानि करते हैं, तो ग्लानिके दोनों अर्थ हैं—परिणाममें खेद खिन्न होना और ग्लानि करना। तो ज्ञानी पुरुष प्रथम तो धर्मात्माजनोंकी सेवा करते समय धर्मात्मा पुरुषोंके शरीरसे लार, विष्टा आदिक का कोई प्रसंग आ जाय तो वे उनसे ग्लानि नहीं करते। उसका कारण यह है कि इस ज्ञानी पुरुषको धर्ममें प्रीति है और धर्मात्मावोंमें प्रीति है। जैसे मां को अपने बच्चे से प्रेम होता है तो उस बच्चेकी टट्टी वगैरह उठानेमें वह मां घृणा नहीं करती है। इसी तरह धर्मात्मापुरुषों की सेवा करने में धर्मात्मापुरुष खेद नहीं करते हैं। साधुजनों को शरीरसे मलिन देखकर वे उनसे ग्लानि नहीं करते और फिर उन ज्ञानियोंकी प्रकृति तो ऐसी ही सहज हो जाती है कि वे किसी भी परपदार्थको निरखकर उसके ज्ञातामात्र रहते हैं, ग्लानि नहीं करते। और वे अपने वैभवमें भूख प्यास शीत उष्ण आदिक नाना प्रकारके जो भाव होते हैं उन भावोंमें वे ग्लानि नहीं करते हैं। पापके उदयसे कोई दुःखदायक भाव आ जाय तो उसके संयोगमें उद्वेग न करना चाहिए। ज्ञानी पुरुष सबसे निराले अपने आपको जानकर उसमें ग्लानि नहीं करते क्योंकि उदय कार्य अपने वशका नहीं। भूख प्यास सर्दी गर्मी आदिक की वेदनाओंसे अपना घात भी नहीं मानते। वे ज्ञानी पुरुष कोई भी मलिन पदार्थ दीखे पर उसमें वे ग्लानि नहीं करते। यह शरीर जिसमें मलमूत्रका निवास है यह तो अधिक निन्द्य वस्तु है।

सर्वाधिक ग्लानिकी खोज—अब मौलिक पद्धतिसे खोज करके यह बतलावो जरा कि दुनियामें सबसे अधिक मलिन चीज क्या है? मौलिक पद्धतिसे इसकी खोज करें। जैसे किसी बच्चे का पैर विष्टासे भिड़ जाय तो वह बच्चा अस्पर्श्य माना जाता है। उसे एकके बाद एक जो भी बच्चा छू लेगा वह भी अस्पर्श्य माना जाता है। पर मूलमें अस्पर्श्य तो वह एक ही बच्चा है। ऐसे ही इस दुनियामें निन्द्य चीज बहुत लोग मानते हैं हड्डी, खून, मल, मूत्र आदि। तो यों जगतमें जो अपवित्र वस्तुवें हैं, उन सबमें यही तो खोजें कि आखिर मौलिक अपवित्र चीज क्या है? जड़में अपवित्र क्या है? मलमूत्र अपवित्र हैं तो किसके सम्बन्धसे। अपवित्र हैं? और शरीर जो अपवित्र बना है वह किसके सम्बन्धसे बना है? मोही जीवके सम्बन्धसे मोही जीवने इस वर्गको ग्रहण किया और यह शरीर बना तो शरीर खराब। मोही जीव खराब और मोही जीवमें भी जीव क्या खराब, मोह खराब। तो दुनियामें जितनी भी निन्द्य चीजें हैं वे सब इस मोहके कारण निन्द्य हुई हैं। मलमूत्र आदिक भी गंदे हुए तो उसका मूल कारण मोह है। मोहके सम्बन्धसे इस जीवको शरीर मिला तो शरीरमें यह चीज बनी, उससे फिर लोग ग्लानि करने लगे। तो मूलमें बाहरी चीज है मोह। मोहसे अपवित्र अन्य कुछ नहीं है? कैसा पक्षपात है मोही जीवों का? जिससे मोह है वह तो मेरा सर्वस्व है और जिनमें मोह नहीं है उन्हें न कुछ सा मानते हैं, मानो उनमें जान ही नहीं है। इतना जो कठिन पक्षपात लगा है तो वह भयंकर गंदा है। ग्लानि करता है तो मोहसे करता है। यह मोह भाव अपवित्र है, हमारा विनाश करने वाला है। यह देहसे भी अधिक गंदा हुआ। तो ग्लानि क्यों करे किसीसे? मोह भाव हटे तो यह ग्लानिकी दृष्टि हटे। शरीर ज्ञानमें रहा तो वहां भी मोह दृष्टि रही।

निर्विचिकित्साका निष्कर्ष—जो कुछ ज्ञानमें आये आने दो, उससे ग्लानि न करें। पापके उदयसे

अगर दु:ख देने वाला भाव अपने से होता है तो उसमें खेद खिन्न न हों। समझें कि यह भी एक उदयकी चीज है। अपने अमूर्त आत्माका घात न करें, आत्माकी रक्षा करें। अपनी रक्षा इसीमें है कि अपने स्वरूपको यथार्थ ध्यानमें लें। मैं सबसे न्यारा हूं, केवल ज्ञान और आनन्दमय आत्मवस्तु हूं। यह मैं आत्मा केवल अपने ज्ञानभावका करने वाला हूँ और ज्ञानभावका ही भाने वाला हूं। ज्ञानभावके सिवाय अन्य किसीका न मैं कर्ता हूं और न भोक्ता हूं। इस प्रकारका अपना खिन्नतारहित परिणाम रखिये। यह है सम्यग्दृष्टिके तीसरे अंगका वर्णन। निराकांक्षताका उदाहरण था पिछला पैर। आगे पैर धरते हैं तो कितनी सावधानीसे धरते हैं और पिछला पैर जैसा चाहे उठा देते हैं। तो यों सम्यग्दृष्टि पुरुष पर वस्तुवोंमें आकांक्षारहित होता है। अब आज तीसरा अंग है निर्विचिकित्सा। तो जैसे दो पैर दो अंग हैं ऐसे ही दो हाथ भी दो अंग हैं। तो निर्विचिकित्सा का अंग है बायां हाथ। प्रत्येक मनुष्य बांये हाथसे अपना मल धोता है पर किसीने अपने बायें हाथको कभी काटकर फेंका क्या? बल्कि उसे तो बड़े प्यार से रखते हैं। घड़ी अंगूठी आदिसे सजाकर रखते। किसी ने इस बायें अंगको काटा क्या? उससे प्यार रखते हैं, ऐसे ही निर्विचिकित्सा अंगमें साधुजनोंके धर्मात्माजनोंके शरीरसे चाहे मल आदिक निकले, पर वे फेंके नहीं जाते हैं, वे भी प्रीति करनेके योग्य हैं। अब चौथा अंग है अमूढ़दृष्टि।

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढ़दृष्टित्वम् ॥२६॥

ज्ञानीका अमूढदृष्टित्व—लोकमें खोटे शास्त्रोंमें खोटे मजहबोंमें, खोटे देवी देवतावोंमें मूढ़दृष्टिकी मनमें उपेक्षा करनी चाहिए। जो अन्तस्तत्त्वके प्रेमी हैं उन पुरुषोंको मूढ़ता न करनी चाहिए। लोकमें मूढ़ता कहो: जैसे लौकिक जन विपरीत प्रवृत्ति करते हैं उनको देखादेखी सम्यग्दृष्टिको न चलना चाहिए, ज्ञानसे विचार कर कार्य करो। एक घटना बताते हैं—कोई सन्यासी कुछ लड्डू लेकर चला, उसका एक लड्डू हाथसे छूटकर विष्टापर गिर गया, तो लोभवश उस विष्टापर पड़े हुए लड्डूको उठा लिया और उसने देखा कि लोगोंने मुझे देख लिया। उसने क्या किया कि उस पड़े हुए विष्टाको उसने १०—२० फूलोंसे ढांक दिया इसलिए कि लोग आकर देख न लें कि संन्यासीने विष्टापरसे लड्डू उठाया। बादमें लोगोंने देखा कि संन्यासी ने यहां फूल चढ़ाया है, सोचा कि यहां पर कोई देव होगा। सो लोगोंने उस पर फूल चढ़ाना शुरू कर दिया। फूलोंका एक बहुत बड़ा ढेर इकट्ठा हो गया। बादमें बात चली कि देव के तो दर्शन करना चाहिए। इन फूलोंको उठाकर देखें तो सही कि इसमें कौनसा देव है जिसपर संन्यासी ने फूल चढ़ाये। जब उस फूलोंके ढेरको उघाड़ कर देखा तो मिला क्या सो आप समझ लो। तो यह लोकमूढ़ता ऐसी है। अब बतलावो आत्माका धर्म तो आत्मामें है। बार बार आज ऐसा चिन्तन हुआ कि वंदनामें कितने उतार चढ़ाव आते हैं, चढ़ने उतरने में कितने कष्ट होते हैं? उस पहाड़के उतार चढ़ावमें कहां आराम मिल पाता है? आरामका स्थान तो अपना सहज स्वरूप है उसका परिचय न हो तो तिरनेको कोई उपाय नहीं पा सकता। जो तिरनेका उपाय है वह तीर्थ है। यहां भी तीर्थवंदना करने का यही उद्देश्य रखें कि यहांसे जो मुनि मोक्ष गए, उन्होंने इस तरह ध्यान किया, अपने आत्मामें इस तरह उपयोग लगाया, इस विधिसे वे तिरे। अब तिरने के उपायकी विधिका कुछ ख्याल ही न हो, हाँफते चले जाते, देख लिया, तृप्त हो गए मान लिया सो भला हो गया, पर इतने से संसारके संकट छूटनेकी विधि न मिलेगी। यह स्मरण होना चाहिए, जो उन्होंने किया वही उपाय करना हमारा कर्तव्य है। इसका कुछ भाव जगे वह है तीर्थ और जो ऐसा तीर्थ है कि जिसमें सच बातके स्मरणकी गुंजाइश तक नहीं है, आत्माका उद्धार कैसे हो उस उपाय की गुंजाइश तक नहीं वह तो पूरा समयाभास है। लोक में कितनी ही मूढ़तायें हैं, कहीं पर ऐसा भी है कि लोग पर्वतपर चढ़ते, ऊपरसे गिरते और पर्वतसे गिर कर मरनेमें अपनी मुक्ति समझते हैं। बहुतसे लोग नदियांमें स्नान करके समझ लेते हैं कि हमारे सारे पाप धुल गए। यों ही अनेक लोकमूढ़ताकी बातें हैं। तो ज्ञानी पुरुष ऐसी बातोंसे मूढ़ नहीं बनते। वे अपना सही विवेक बनाये रहते हैं,

इस तरह शास्त्रभक्ति, जो सत्य शास्त्र तो नहीं है मगर शास्त्रकी तरह प्रतीत हो उसे कहते हैं शास्त्राभास। शास्त्राभासमें भी मूढ़तारहित होना चाहिए। जो वीतरागताकी बात बताये, जो आत्माके स्वरूपकी बात बताये वह तो है शास्त्र और अन्य सब हैं कुशास्त्र। जो राग की पोषणा करें ममता बढ़ायें ऐसे शास्त्र शास्त्राभास हैं। ज्ञानी जीव शास्त्राभासमें भी मूढ़ नहीं होता। देवताभास जो देव तो नहीं हैं पर देवकी तरह माने जा रहे हैं। देव कौन हो सकता है? जो दोषोंसे रहित हो और गुणोंसे परिपूर्ण हो उसे कहते हैं देव और ऐसा जो न हो, विपरीत है, रागी है, मायाचारी है उसे देव मानें, ऐसे देव देवाभास हैं। ऐसे देवाभासोंमें भी तत्त्वज्ञानी पुरुषको मूढ़ता नहीं होती।

अमूढ़दृष्टित्वका सारांश—यह चौथा अंग है अमूढ़ दृष्टि। तीन अंगोंका वर्णन किया और उनके उदाहरण बताये अगला पैर, पिछला पैर और बांया हाथ और अमूढ़ दृष्टिका उदाहरण ले लो दाहिना हाथ। जब कुछ दृढ़तासे बयान किया जाता है तो दाहिना हाथ उठा कर बोला जाता है कि यह बात ऐसी ही है। सच बात यह है कि जो वीतराग है, सर्वज्ञ है वह अन्य कभी नहीं हो सकता, इस बातकी दृढ़ता बताने के लिए दाहिना हाथ उठता है, यह बात हो गयी अमूढ़ दृष्टि, ऐसी ज्ञानी पुरुषकी एक स्वाभाविक परिणति बन जाती है व्यवहारमें और निश्चयमें अपने आपका जो स्वरूप है उस स्वरूपमें मूढ़ता नहीं रखता। किसीके बहकाने से अन्य प्रकार नहीं मान जाता। विवेक रहता है। आत्मा नित्य है, अविनाशी है, सर्वजंजालोंसे परे है, केवल अपने आपके स्वरूपमें मग्न है, अपने आपमें अपने आपका अस्तित्व रखने वाला है। उसमें कोई मूढ़ता नहीं होती। ५ वां अंग बताते हैं उपगूहन अंग। इसी को कहते हैं उपबृंहन अंग।

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।

परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७॥

ज्ञानीका उपगूहन अंग—उपबृंहण नामक गुणकी वृद्धिके लिए मार्दव आदिक भावनाके द्वारा सदा अपने धर्मकी वृद्धि करना चाहिए और दूसरे के दोषोंका आवरण करना चाहिए। इस अंगके दो नाम हैं, उपगूहन और उपबृंहन। उपगूहनका अर्थ है छुपाना। किसी धर्मात्माके द्वारा जो कि बालकवत् है, असत्य है, अथवा किसी कषायसे प्रेरित है उसके द्वारा कोई अपराध बने तो उसे प्रजामें प्रकट न करना चाहिए, क्योंकि प्रजाजन स्वच्छन्द बन सकते हैं कि ये लोग ऐसे ही धर्मात्मा होते हैं, और जब इस तरहके लोग पाये जाते हैं तो ऐसे धर्मका क्या काम है, प्रजाजनोंमें असंतोष हो जायेगा, धर्मसे दूर हो जायेंगे। उस श्रद्धाकी और प्रवृत्तिकी परम्परा छिन्न-भिन्न हो जायेगी, अतएव यदि धर्मका अपवाद होता हो तो उसे प्रकट न करना उपगूहन अंग है। दूसरेके दोष प्रकट न करनेका यह अर्थ है कि धर्म हमारा निर्दोष रहे, लौकिक जन धर्मकी महत्ता समझते रहें, इसमें किसी प्रकारका दोष लौकिक दृष्टिमें न आये। बस धर्मको निर्दोष बनाये रखने के लिए उपगूहन अंगका पालन किया जाता है। इसका दूसरा नाम है उपबृंहन। उपबृंहन मायने बढ़ना। अपने आत्माके स्वभावका वर्द्धन करना सो उपबृंहन अंग है। आत्माका स्वभाव है केवल जानन और देखन। रागद्वेष करना आत्माका स्वभाव नहीं है। इस तरह इन कर्मोंके उदयसे, संस्कारसे आत्मामें रागादिक की मलिनता उत्पन्न होती है, पर यह मलिनता आत्माकी वास्तविकता नहीं है। तो स्वभाव है केवल मात्र जानन देखन। यह केवल जानन देखनके प्रयत्नसे है ज्ञानी। इसीके मायने हैं जानन देखनके साथ जो रागादिक भाव लगे हैं वे दोष। जो मात्र जाननहार रहता है। किसी भी पदार्थको देखकर जाननहार रहे, रागद्वेष न करे। जैसे किसी सड़कपर घूमने जाते हैं तो वहां मनुष्य-मनुष्य ही मिलते हैं, पर परिचय वाले नहीं मिलते हैं। उन मनुष्योंको देखकर राग द्वेष नहीं करते क्योंकि कोई परिचय नहीं है। कहां रागद्वेष करें यों चलते-चलते रास्तेमें अपने घरका कोई दिख गया तो उससे राग करने लगते हैं। तो ज्ञानके साथ जो राग लगा रहता है वह दोष है। राग दूर हो जाय फिर रागरहित अवस्थामें जैसा जो कुछ ज्ञान बने वह ज्ञान सही है, उसका

विरोध करना रागद्वेषमें फंसाव तो वह अधर्म है। इन मलिन परिणामोंको न करके केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिए। जो अपने आपके गुणोंका विकास है उसे कहते हैं उपवृंहण अंग। दोषका ढांकना, गुणोंका बढ़ाना सो उपवृंहण है।

उपगूहन अंगमें आदेय सारांश—जिस किसी भी प्रकार हो, किसीके दोष कई बार ढांके जायें फिर भी न माने तो उसके दोष कैसे दूर करें ? उसके दोष दूर करने का अन्तिम उपाय यह है कि उसको छोड दे। दोष न छोड़ना चाहे वह तो उसको छोड़ देवे। तो जहां उपगूहन है वहां उपवृंहण है और जहां उपवृंहण है वहां उपगूहन है—इन दोनों बातोंको एक ही उपगूहन अंगमें शामिल कर दिया है। तो यह उपगूहन अंगका पालन करना है। जैसे शरीरमें दो हाथ दो पैर यों चार अंग बताये गए थे तो उपगूहनकी दृष्टिमें अङ्ग है नितम्ब। जैसे लोग नितम्बको प्रकट नहीं होने देते यों धर्मात्मापुरुष दूसरे धर्मात्मामें कोई दोष आये तो उसे जनतामें प्रकट नहीं करते ताकि दुनिया न समझे कि इनके धर्ममें दोष है। इस ५वें अङ्गका नामहै उपगूहल अङ्ग। इसका दूसरा नाम उपवृंहन है। क्षमा धर्मके द्वारा आत्माका गुण बढ़ाये, क्रोध न करे तो उसमें आत्माका गुण बढ़ता है। नम्रता रखे तो उसमें आत्माका गुण बढ़ता है। कपट न करना, लोभ न करना आदिक जो धर्मकी भावना है उन भावनाओंसे आत्माका गुण बढ़ायें ! आत्माका गुण बढ़ता है कषाय न रहने से। अतएव कषाय न करके आत्माका गुण बढ़ना इस का नाम उपवृंहण अङ्ग है।

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु व मेनोन्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥२८॥

सम्यक्त्वका स्थितिकरण अङ्ग—काम क्रोध घमंड लोभ मायाचार—इन भावोंके होने पर पुरुष जो है वह न्यायमार्गसे चलित हो जाता है। मनमें काम सम्बन्धी विकार आने पर भी मनुष्य धर्मसे चलित होता और कभी घमंड छल कपट लोभ ये परिणाम जगे तो मनुष्य न्यायपथसे विचलित हो जाता है, धर्ममार्गमें स्थिर नहीं हो पाता है। जो इस प्रकार धर्ममार्गमें च्युत होने को हों, उनको जिस किसी प्रकार स्थिर करना सो स्थितिकरण अङ्ग है। जीव धर्मसे च्युत हो जाता है तो उसमें आत्माका घात है। अपना आत्मा धर्मसे भ्रष्ट होता हो तो जिस प्रकार धर्ममें दृढ़ हो जाय ऐसा उपाय करना उसका नाम स्थितिकरण अङ्ग है। जैसे जब पुष्पडाल मुनि अपने पदसे चलित हो रहे थे तो उनके गुरु वारिषेण महाराजने उन्हें स्थिर किया था। वारिसेण थे राजाके पुत्र। उनके मित्र थे पुष्पडाल। एक बार पुष्पडालने वारिसेणको आहार दिया। आहार देकर उनको छोड़ने जा रहे थे। जब मील दो मील दूर तक चले गये तो पुष्पडाल बार-बार उन स्थानोंका ध्यान दिलाने लगे जहां पहिले एक साथ खेला करते थे। यह वही तालाब है यह वही जंगल है आदि। यह याद इसलिये दिला रहे थे कि महाराज अब यह कह दें कि काफी दूर आ गये अब आप लौट जायें। पर लौटनेको न कहा। आखिर और दूर पहुंच कर पुष्पडालके भी भाव ऐसे बन गये कि वे मुनि हो गए। मुनि तो हो गये पर कुछ दिनों बाद अपनी स्त्रीकी याद सताने लगी। जब वारिसेणने पुष्पडालके भावोंको समझा तो झट अपने घर खबर भेजी कि सभी रानियोंको खूब शृङ्गार सहित सजा कर रखना, हम कल घर आवेंगे। उसकी मां ने विचार किया कि ऐसी क्या बात है जो आज हमारा पुत्र घर आने को कह रहा है। आखिर सिंहासन सजाया और सभी रानियों को खूब शृङ्गारसे सजाया। जब वे दोनों मुनि पहुंचे तो काठके सिंहासन पर वारिसेण महाराज बैठ गये और सोने के सिंहासन पर पुष्पडालको बैठाया। मां ने तो सोचा था कि अगर मुनिपद से भ्रष्ट हो रहे होंगे तो फिर सोनेके सिंहासनपर बैठेंगे। पुष्पडाल उस अद्भुत दृश्यको देखकर विस्मित हुआ और अपने को धिक्कार ने लगा। अहो ! इन महाराजने इस प्रकारकी विभूति और ऐसी सुन्दर रानियोंको ठुकराया, मैं एक पुरुष अपनी कानी स्त्रीकी व्यर्थमें चिन्ता कर रहा हूं। लो पुष्पडालमुनि अपने पद पर स्थिर रहे। तो धर्मात्माको धर्मात्मावोंके दोष न प्रकटकर उन्हें धर्ममें स्थिर करना चाहिए यही स्थितिकरण

अङ्ग है। जैसे शरीरके अङ्गोंमें पीठ कितना ही बोझ रख लेती है तो स्थितिकरणका अङ्ग जैसे पीठ पर वस्तु रखना है, इसी तरह स्थितिकरणका अङ्ग सम्यग्दर्शनमें स्वपरको धर्ममें स्थित करना है।

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमवलम्ब्यम् ॥२९॥

सम्यक्त्वका वात्सल्य अङ्ग—सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंमें एक वात्सल्यअङ्ग है। वात्सल्यका लक्षण छहढाला में बताया कि धर्मात्मा जनोंमें गाय बछड़ेकी तरह प्रीति रखना सो वात्सल्यअंग है। जैसे गायको बछड़ेसे कोई स्वार्थ नहीं है कि यह बड़ा होनेपर मेरी रक्षा करेगा, पर वह गाय बछड़ेमें बड़ा वात्सल्य रखती है, इसी तरह एक सधर्मी पुरुषोंको दूसरे साधर्मी पुरुषसे निष्कपट प्रीति रहती है। किनमें प्रीति करना? एक तो समस्त साधर्मी जनोंमें में प्रीति करना। जो धर्मके अनुसार हितपथ में लगाने वाले हैं उनसे वात्सल्यभाव रखना। मुख्य चीज है धर्म में प्रीति रखना। धर्म है अहिंसा। रागद्वेष न उत्पन्न हो यही अहिंसा है। जीवों का घात न हो यह द्रव्यसे अहिंसा है। रागद्वेषमोहका परिणाम अपने अन्दर न बने यही रत्नत्रयधर्म है। धर्ममें प्रीति रखना इसका नाम है वात्सल्य अंग। वात्सल्य अङ्गमें प्रचलित हुए हैं विष्णुकुमार मुनि। जिस समय ७०० मुनियों पर घोर उपसर्ग हुआ, जो श्रवण नक्षत्र था वह भी कांपने लगा। एक गुरु महाराजसे पूछा कि यह क्यों कांप रहा है। तो बताया कि ७०० मुनियों पर घोर उपसर्ग हो रहा है, उसे बचानेमें समर्थ विष्णुकुमार मुनि हैं। विष्णुकुमारके विक्रिया ऋद्धि है, वही इस घोर उपसर्ग का निवारण कर सकते हैं। फिर विष्णुकुमारमुनि अपने पदसे थोड़ा चलित होकर भी वहां गए। मंत्र पढ़ने लगे। तो बलि राजा जोकि उपद्रव कर रहा था उसने प्रसन्न होकर कहा महाराज! तुम्हें जो मांगना हो मांगो। तो उस समय विष्णुकुमार ने केवल तीन कदम भूमि मांगी बलि राजाने कहा कि तीन कदम भूमिसे क्या होता है और कुछ मांगो, पर विष्णुकुमार ने इससे अधिक न मांगा। आखिर विष्णुमार ने अपनी विक्रियाऋद्धिसे तीन कदममें सारा विश्व नाप लिया। एक पैर बीचमें रखा और एक टांग ऐसी फैंकी कि सारी जमीन नप गई। जब तीसरा पग रखने को भूमि न बची तो उस समय बलिने कहा कि मेरी पीठ पर एक पैर रख लो। उस समय भू लोक थर्रा रहा था क्योंकि विचित्र बात हो रही थी। सब घबड़ाकर पैरों पड़े, कहा—महाराज इस उपद्रवको दूर करो, रक्षा करो। तो उपद्रव दूर किया। वात्सल्य अङ्गकी बात कही कि विष्णुकुमारने अपने धर्मपद में कुछ कमी करके भी धर्मात्माजनों की रक्षा की। साधर्मी जनोंकी रक्षा करना अपना कर्तव्य है। जिस हृदयमें प्रेम भरा रहता है वह हृदय प्रेमका अङ्ग है। तो शरीरमें जैसे एक हृदय अङ्ग है इसी प्रकार सम्यग्दर्शनमें एक वात्सल्य अङ्ग है। ८ वें अंगका नाम है प्रभाव।

आत्माप्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

सम्यक्त्वका प्रभावना अङ्ग—कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषको रत्नत्रय तेजके द्वारा निरन्तर ही अपना आत्मा प्रभावित करना चाहिये। अपनी प्रभावना बढ़ायें। कोई भी पुरुष किसी दूसरेकी प्रभावना नहीं करता। प्रभावना अङ्गमें अन्तरङ्ग दृष्टि देकर आत्माके आराधना की बात कही गई है। अपने आपको निर्विकल्प ज्ञानमात्र सबसे निराला निरखें, उसमें ही लीन हों तो उसमें आत्मा के गुण बढ़ते हैं, उनकी प्रभावना होती है और फिर अन्य पुरुषों के द्वारा जनता में बड़ी प्रभावना होती है। दान देने से, तपश्चरण करने से, जिनपूजा करने से, विद्याके चमत्कारसे धर्मकी प्रभावना होती है। तो अन्तरङ्गमें हुए अपने शुद्ध आचार विचार द्वारा अन्तरङ्गमें प्रभावना धर्म और बहिरङ्ग हुए पूजा विद्या दान आदि, इन सबके द्वारा बाह्य में धर्मकी प्रभावना करना चाहिये। इस तरह सम्यग्दर्शनके निश्चय-रूप व व्यवहाररूप ८ अङ्ग हैं। इन ८ अंगोंका समूह सम्यग्दर्शन है। इसमें कोई कमी हो जाये तो जन्म संततिच्छेदमें शिथिलता हो जाती है। प्रभावना अङ्गमें बज्रकुमार मुनि प्रसिद्ध हुए हैं। किसी समय एक चोर जो वेश्यानुरक्त था वेश्याके कहने पर एक रानी का हार चुराकर भाग गया। नगरके कोतवालने उसका पीछा किया। भागते भागते

उसने वज्रकुमार मुनिके पास वह हार फैंक दिया और खुद निकल गया। कोतवाल ने सोचा कि इसी ने रानी का यह हार चुराया है और अपनी बचतके लिये मुनि बन गया है। राजाने वज्रकुमारको तलवारसे मरवा देनेकी आज्ञा दी। जिस समय तलवार चलायी गई उस समय तलवार न रही, फूलों की वर्षा होने लगी। इस बात से लोग बहुत विस्मित हुए और जनतामें उन मुनिराजका व धर्मका बड़ा प्रभाव हुआ। तो यह प्रभाव था तपश्चरणका। कोई दान करके, कोई कैसे ही इस धर्मकी रक्षा करते हैं। तो जिस किसी भी प्रकार जिनधर्म की प्रभावना करना सो प्रभावना अङ्ग है, भैया ; समझ लीजिये कि संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय है कि जो जैनशासन में बताया गया है उसके अध्ययनसे उसके चिन्तनसे, यह दृढ़ता लायें कि इससे ही कल्याण हो सकता है अन्य प्रकारसे नहीं। इस प्रकार अपनेमें अपने धर्मकी प्रभावना करना सो प्रभावना अंग है। जैसे शरीरमें एक मस्तक प्रभावना अंग है, लोगों पर प्रभाव पड़ता है चेहरे से। चेहरा दिखे बिना प्रभाव नहीं पड़ता। तो जैसे शरीर में मस्तक प्रभावनाका अंग बनता है इसी रत्नत्रय तेजसे अपने को विकसित करना धर्मकी प्रभावना का एक अंग है। इस तरह सम्यग्दर्शन के प्रकरणमें ८ अंगों का वर्णन किया गया है और ८ अंगोंमें न्यून हो तो यों समझो जैसे कोई मन्त्र है और उसमें किसी अक्षरकी कमी है तो सिद्धि नहीं होती है। इसी प्रकार ८ अंगोंमें कुछ कमी है तो सिद्धि नहीं होती है। कल्याण का मार्ग तो यही जिन शासन है।

अङ्गोंकी कमीसे धर्मक्षेत्रमें विडम्बना—प्रभावनाके अंगमें कमी रहनेके कारण आप देख लिजिये कि किसी भी समारोहमें इनका कुछ भी असर नहीं होता बल्कि लोग पीछे गाली देते हैं। लोग कहते हैं कि ये अपना वैभव दिखा रहे हैं। उनके चित्तमें यह बात नहीं आती कि जैन धर्म ही एक संसारके संकटोंसे छूटानेका मार्ग है। तपश्चरणकी बात देखें तो दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है। आरामकी तरह ख्याल है। व्रत नियम संयमका ख्याल नहीं है। प्रत्येक नियमकी चर्चामें अपनी कमजोरी अनुभव करते कि यह कैसे निभता है? तपश्चरणकी यह हालत है। दानकी हालत यह है कि अपने ही घरमें अपने ही मन्दिरमें बेदीके नामसे, पंचकल्याणके नामसे सारी जिन्दगी में जोड़ा हुआ धन एक साथ खर्च हो सकता है पर दीन दुःखी जनोंको तुरन्त आराम मिले, गरीब लोग भी धर्ममें स्थिर रह सकें, ऐसी भावना करके कौन दान करता है? बाह्य प्रभावनाका भी आजकल स्थान नहीं रहा और अतरङ्ग प्रभावना का तो स्थान नहीं रहा। जब चित्त शान्त हो तो अपने चित्तमें क्षोभ नहीं रहता। जो ज्ञानी पुरुष हैं वे ही धर्म की प्रभावना कर सकते हैं। अपने स्वभावकी अपने गुणोंकी प्रभावना करना सो वास्तविक प्रभावना अङ्ग है। कपटसे भरा हुआ वात्सल्य है। निष्कपट वात्सल्यमें बहुत कमी है। यही कारण है कि एक दूसरे का परस्पर में संगठन नहीं रहता। तो वात्सल्यमें यही विडम्बना बनी हुई है। स्थितिकरणमें कौन किसको स्थिर कर सकता है? कोई डूबता हो तो देखते ही रहते हैं। स्थितिकरण भी आजकल क्या हो रही है? उपगूहन अङ्गमें कोई किसी की जरा भी गल्ती नजर आयी तो उसका तुरन्त प्रचार कर देना यह भी आदतसे शुमार हो गया है। अमूढ़दृष्टि अङ्गमें तो बहुत कमी हो गयी है। जरा भी चिन्ता हो, बच्चा बीमार हो तो जिस चाहे कुदेव कुशास्त्र कुगुरुको अपनी भक्ति समर्पित कर देते हैं। निर्विचिकित्सा अङ्ग तो बहुत कम दिखता है, ग्लानिभाव बना रहता है। धर्मात्माओंको देखकर मुख मोड़ लेते जरा जरा सी बातोंमें खेदखिन्न हो जाते, कोई नियमित ढंगसे संतुष्ट नहीं रहना चाहते, सभी प्रकार के भय सदा बनाये रहते हैं। इन सब उपद्रवोंका कारण है कि आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा अपने चित्तमें नहीं बसा पाते। इस कारण सारी भटकनायें इसके बनी रहती हैं। यह तो दोष जब कम हो और यह अंगके गुण बढ़ें तो आत्माके उद्धारका मार्ग मिल सकता है।

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥३१॥

सम्यक्त्वलाभान्वित पुरुषों को सम्यग्ज्ञानकी विशिष्टरूपसे उपासना करनेका अनुरोध—जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है उन पुरुषोंको अपनी परम्परा और युक्तिके अनुसार बड़े यत्नपूर्वक सम्यग्ज्ञानकी सेवा करनी चाहिए। सम्यक्त्व हो जाय, अपना चित्त अच्छी जगह लगा रहे, उसका कर्तव्य है कि अपना स्वाध्याय बराबर बना रहे। इस जीवका उपयोग विचलित हो सकता है इस कारण भावना ज्ञान की बनी रहे, इसके लिए जरूरी है कि जो जिनआगमकी परम्परा है उसके अनुसार ज्ञानार्जनको अपनी प्रवृत्ति बनाएं। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। ज्ञान न हो तो फिर आत्मा क्या है? उस ज्ञानका विकास स्वाभाविक सामान्य है, केवलज्ञान है। जो जो भी सत् हैं वे सब इसके ज्ञानमें आ जायें तो बड़ा भारी इसका विकास है लेकिन जब तक विकासपूर्ण न हो पाये तब तक सम्यग्दर्शन अनेक ढंगोंमें रहता है उसके मूलमें दो भाग हो गए—एक परोक्ष और एक प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जहां इन्द्रियोंका आलम्बन लिए बिना भूत भविष्य तथा वर्तमानके बाहरी पदार्थोंको जान लिया जाय। ज्ञानका स्वरूप जानन है तो उसमें इन्द्रियोंकी क्या आवश्यकता है? पर जब तक ज्ञानका आवरण लगा है तब तक इन्द्रियों के द्वारा हम कुछ ज्ञान कर पाते हैं लेकिन प्रत्यक्षज्ञान साक्षात् अपने ही ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थोंको जान लेता है। यह प्रत्यक्षज्ञान आजकल हम आपको नहीं प्राप्त है। दूसरा है परोक्ष ज्ञान। इन्द्रिय और मनसे जान लेना परोक्ष ज्ञान है, इसमें सविकल्प और निर्विकल्पका भेद किया जाय तो मतिज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—ये चार ज्ञान निर्विकल्प हैं और श्रुतज्ञान सविकल्प हैं। जैसे आँखों देखने से यह ज्ञान हो जाता है कि यह हरा रंग है। जो सामान्य रूपसे जाना हुआ था, वह है मतिज्ञान और उसमें जब अधिक निर्णय कर लेते हैं कि यह अमुक चीज है तो वह है श्रुतज्ञान। अपने ही आत्माके द्वारा आंशिक रूपसे मर्यादा को लिये हुए प्रत्यक्ष जानना अवधिज्ञान है। तीन लोकके पदार्थोंको जान लेना केवल ज्ञान है।

वस्तुका नयों से परिचय—ज्ञानके आशयवश अंश होते हैं, जिसके मूल में दो भेद हैं—एक द्रव्यार्थिकनय और एक पर्यायार्थिकनय या एक निश्चय और एक व्यवहार। जो द्रव्यका मुख्य लक्ष्य लेकर जाने सो द्रव्यार्थिकनय है और जो पर्यायका मुख्य लक्ष्य लेकर बोले सो पर्यायार्थिकनय है। मनुष्यको गौण करके केवल एक जीवद्रव्यको जानें तो वह होता है द्रव्यार्थिकनय। जो शाश्वत है ऐसे चैतन्यस्वरूपका ज्ञान करना वह द्रव्यार्थिकनय है। और उससे आत्मा का हित है। तो द्रव्यार्थिकनय द्रव्य को ग्रहण करता है जो अनादि अनन्त है जिसका न कभी आदि है न अन्त। जो आत्माका स्वरूप है उसपर दृष्टि डालें तो द्रव्यका आलम्बन लिया। उस स्वरूपको लेना कि मैं चैतन्यमात्र हूँ—ऐसा जो अनुभव करना उसका नाम है द्रव्यार्थिकनय। और पर्यायको जाना कि यह मनुष्य है, पशु है, पक्षी है ऐसी नाना पर्यायोंपर दृष्टि डाले उसका नाम पर्यायार्थिक है। पर्यायको बहुत कालसे जान रहे हैं, जो आत्माका स्वभाव है उस पर दृष्टि दें तो आत्माका हित है, अपने स्वभावको ऐसे उपयोगमें ले जायें जो अनादि अनन्त है, चैतन्यमात्र है, ज्ञानस्वरूप है, उसे ही अनुभव करें कि यह मैं हूं तो उसका नाम है द्रव्यार्थिकनय। द्रव्य को जाना इससे आत्माका हित है। पर्यायको पर्यायरूपसे जाना, पर पर्यायको आत्मा रूपसे जाना तो इससे अहित है। जैसेकोई मनुष्य देहको देखकर निर्णय करते हैं कि यह मैं हूं तो यह अहितकी बात है और इसमें जो चैतन्यभाव है वह मैं हूं, ऐसे चैतन्यभावको ग्रहण करे तो इससे आत्माका हित है। अपने चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वको ग्रहण करें तो इससे शान्तिका मार्ग मिलता है।

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥३२॥

दर्शनसहभावी ज्ञानका पृथगाराधनोपदेश करनेका कारण—वस्तुस्वरूपके सम्बन्धमें जो कुछ ज्ञान किया वह ज्ञान सम्यक्त्वके होने पर सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यद्यपि सम्यक्त्व सम्यग्ज्ञान साथ-साथ हुए तो भी सम्यग्दर्शनका लक्षण विपरीताभिनिवेशरहितता है। इस कारण सम्यग्दर्शनकी अराधना करना बताया और सम्यग्ज्ञानका लक्षण है जानकारी, सो सम्यग्ज्ञानकी आराधना करना बताया। कोई यह प्रश्न करता है कि आराधना जो चार तरह

की बतायी गई है—सम्यक्त्व आराधना, ज्ञान आराधना, चारित्र आराधना और तप आराधना। तो जब सम्यग्ज्ञान सम्यक्त्वके साथ हुआ, सम्यक्त्वमें शामिल हो गया तो फिर अलगसे क्यों ज्ञान आराधना बताया है ? समाधान इस तरह है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एक चीज नहीं है। लक्षणभूत् तत्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जैसे अवस्थित हैं उनका उस प्रकार ज्ञान करना सो सम्यग्ज्ञान है। आत्मा में दो गुण हैं—श्रद्धागुण और ज्ञानगुण। श्रद्धागुणका कार्य है सम्यक्त्व और ज्ञानगुणका कार्य है ज्ञान। विश्वास और ज्ञान, इन दो बातोंमें अन्तर है, जो अनुभव सिद्ध है जानकारी होना और उसका विश्वास होना। किसी ने कुछ कह दिया, सुन लिया तो जानकारी हो गयी। विश्वास मेरे विशेष अन्तरङ्गकी चीज है। विश्वास और ज्ञानमें जरा अन्तर है, इस कारणसे सम्यक्त्वकी आराधना जिन-ग्रन्थोंमें अलग बताया है।

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

सर्वप्रथम सम्यक्त्वकी आराधनाका उपदेश करनेका कारण—अब एक यह प्रश्न होता है कि जब सम्यक्-दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं तो सबसे पहिले सम्यक्त्वकी आराधनाका क्यों वर्णन है ? उसकी आराधनाके बाद सम्यग्ज्ञानकी आराधना बताया है। उसका समाधान देते हैं कि सम्यग्ज्ञान तो कार्य है और सम्यग्दर्शन कारण है। यद्यपि दोनों एक साथ होते हैं फिर भी जैसे दीपकका जलना और प्रकाशका होना ये दोनों यद्यपि एक साथ हैं पर दीपकका प्रकाश कारण है या प्रकाशका कारण दीपक है। प्रकाशका कारण दीपक है दीपकका कारण प्रकाश नहीं। एक साथ होने पर भी कारण और कार्य पाये जाते हैं। सम्यग्दर्शनके होने पर वह ज्ञान सम्यक्ज्ञान बनता है। कारण कि आराधना पहिले बताया और कार्यकी आराधना उसके बाद। इसके लिए अनेक दृष्टान्त हैं और अनुभव भी बताता कि किसी बातका ज्ञान हो जाना एक साधारण ज्ञान है और जिस समय उसका विश्वास भी हो जाता है तो वह ज्ञान सम्यक् बन जाता हैं और उसमें दृढ़ता होती है। सम्यक्त्व कारण बना। सम्यग्ज्ञानकी महत्ता पूज्यतामें भी कारण सम्यक्त्व है और ज्ञान तो चाहे मिथ्या हो, ज्ञान मोक्षका मार्ग नहीं बना। सम्यग्दर्शन और चारित्र ये दोनों मोक्षके मार्ग बताये और ज्ञान वस्तुतः न सम्यक् होता, न मिथ्या होता। जैसे उजेला न हरा होता, न सफेद होता, किन्तु एक प्रकाश है, उसमें जिस रंगका लट्टू लगा दिया वैसा ही प्रकाश हो जाता है, मगर प्रकाश सामान्य कैसा होता है ? ज्ञान तो ज्ञानका नाम है जाननका नाम है। जब सम्यक्त्वका उदय है तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और जब मिथ्यात्वका उदय है तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

गुणस्थानोंके नामकरणमें ज्ञानकी अकारणता—इसमें प्रथम ४ गुणस्थान जो बने हैं वे सम्यक्त्वकी अपेक्षासे बने हैं, पश्चात्के गुणस्थान चारित्रकी अपेक्षासे बने हैं। मिथ्यात्वका उदय हुआ उसमें सम्यक्त्व बिगड़ गया। जहां सम्यक्त्वगुणका मिथ्या परिणमन है उसका नाम पहिला गुणस्थान है। सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी है दर्शनमोहनीय। दर्शन मोहके उपशम, क्षय, क्षयोपशममें होता है सम्यक्त्व और अनन्तानुबंधी के उदय होने पर दूसरा गुणस्थान होता है तो यह भी एक श्रद्धारूपकी अपेक्षासे समझिये। तीसरे गुण स्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व है, चौथेमें सम्यक्त्व है। प्रथम चार गुणस्थानोंमें श्रद्धाकी अपेक्षा चाहे उल्टा हो चाहे सीधा हो। ५ वें गुणस्थानसे १२ वें गुण स्थान तक समझ लीजिए, चारित्रके सम्बन्धसे और १३ से १४ तक योगके सम्बन्धसे। सो योग का निरोध भी एक चारित्र है वह भी चारित्रके सम्बन्धसे। गुणस्थान जो बने हैं वे श्रद्धा और चारित्रगुणके परिणमनसे बने हैं, ज्ञानसे गुणस्थान नही बने। तो गुणस्थानों की रचना का भी कारण श्रद्धा और चारित्रगुण है और उसमें भी प्रथम मूलमें श्रद्धागुण सम्यक्त्वका कारण बना। सम्यक्त्व न हो तो मोक्ष महल पर कदम नहीं बढ़ाया जा सकता। सम्यक्त्वके होने पर सब घबड़ाहट समाप्त हो जाती है। क्या होगा, कैसे ठीक पड़ेगा, मैं कैसे उन्नति कर सकूंगा आदिक घबड़ाहट सम्यक्त्वके होने पर नहीं होती, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरा मात्र मैं हूं। मेरा परिणमन, मेरा शरण मेरा सब कुछ मेरे से होता है। परवस्तुसे मेरा न लगाव है और न बिलगाव है। केवल अपने आपमें है सम्यग्ज्ञानी। और जानता है कि मैं अपने आप में सही हूँ। मैं जैसा ज्ञानानन्दस्वरूप हूं वैसा अपने को समझता हूं।

ज्योतिर्दर्शनसे भय उद्वेग का अभाव—अपने आपके परमात्माके निकट बसने से ज्ञानीको न घबड़ाहट है और न भय होता है। इसका दृष्टान्त यों समझलें कि जैसे एक व्यक्ति शामके समय अपने घर जा रहा है, रास्ते में एक जंगल पड़ा। रास्तेमें घने जंगलमें वह फंस गया। वह सोचता है कि इस घने जंगल में मैं फंस गया हूं, अब मैं ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जाऊंगा त्यों त्यों फंसता चला जाऊंगा, यही सोच कर वह रुक गया। रुक गया घबड़ाहट बराबर है। पता नहीं रास्ता मिले, न मिले क्या हाल होगा ? इतने में एक बिजली चमकी और उसकी क्षण भरकी चमकमें एकदम साफ सामने रास्ता दिख गया। तो इसके बाद फिर अंधेरा, वही जंगल जिसमें फंसा था, पर अब आकुलता नहीं है क्योंकि उसकी श्रद्धामें यह बात आ गयी कि वह तो है निकटमें मार्ग। होने दो सुबह। सुबह होते ही उस मार्गमें लग जाऊंगा, ऐसी श्रद्धा हो जाने से उसी जंगलमें फँसा हुआ भी घबड़ाहट नहीं है। इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसको घबड़ाहट नहीं है, जबकि मिथ्यात्वमें थी। मोहबन में घूम रहा था तो कुछ मंद मोह होने पर विवेक जगा कि हमको अब आगे मोह नहीं बढ़ाना है, जहां हैं वहीं रहना है, इतनेमें विवेक जगा, इतने में ज्ञान की बिजली चमकी, उतने क्षण भरके प्रकाशमें उसने सब अनुभव कर लिया कि मैं क्या हूँ और सुख का मार्ग क्या है ? अब इसे घबड़ाहट नहीं होती। बाह्य वस्तु कैसी ही परिणमें उससे मेरा कोई सुधार बिगाड़ नहीं है, यों उसको अपने आपमें बहुत बल मिल रहा है। सम्यक्त्वका ही यह प्रताप है।

सम्यक्त्वका महत्त्व—सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और चारित्र ये सम्यक् नहीं कहला सकते। सम्यग्दर्शन मोक्ष-महलकी एक प्रथम सीढ़ी समझी गई है। जैसे सीढ़ीसे महलपर चढ़ जाते हैं ऐसे ही मोक्ष महल पर सम्यग्दर्शनकी सीढ़ीसे चढ़ जाते हैं। सम्यग्दर्शन शब्दका अर्थ है सम्यक् मायने भला और दर्शन मायने दिख जाना, जो भली चीज है उसका दर्शन होना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यक् का सम्यक्रूपसे सम्यग्दर्शन होना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन स्वय एक सम्यक् है। सम्यग्दर्शन यह क्रियाविशेषण बन गया। सम्यक्का दर्शन। सम्यक् है शरणभूत निज आत्म-तत्त्व। उसका दर्शन होना सम्यक्दर्शन है। जो सम्यक् शुद्ध जीवास्तिकाय है अंतस्तत्त्व उसमें दर्शन होना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यक्के द्वारा जो एक विशुद्ध परिणति है, जो सिद्ध करने वाली परिणति है उस परिणतिके द्वारा दर्शन होते हैं। सम्यक्रूपसे सम्यक्का सम्यक्से, सम्यक्के लिए दर्शन होना सो सम्यग्दर्शन है। अलग-अलग ले लो और जोड़कर भी ले लो वहाँ भला दर्शन होता है।

आत्मदर्शनकी प्रतीकतासे पदार्थोंमें शकुनपनेका व्यवहार—लोकमें जितनी चीजें शकुन मानी जाती हैं उन सब शकुनोंको देखकर सम्यक्का ख्याल आता है तो वह सब सम्यक् है। और सम्यक्का ख्याल न आये तो वह शकुन नहीं है। जितनी भी चीजें लोकमें शगुन मानी जाती है उन सबमें घटा लीजिए। लबालब जलसे भरा हुआ कलश लोकमें शकुन माना जाता है, जैसे जल कलशमें लबालब भरा है इसी तरह आत्मामें ज्ञानगुण परिपूर्ण भरा है। कोई बछड़ा दूध पीता हुआ दिख जाय तो उसे भी लोकमें शकुन मानते हैं। जैसे गाय और बछड़ेका निःस्वार्थ वात्सल्य है इसी तरह धर्मात्मा पुरुषोंमें निःस्वार्थ वात्सल्य होना चाहिए। धर्मात्मा मायने धर्म, जो धर्मस्वरूप आत्मा है उसीका नाम धर्मात्मा है। धर्मात्मामें भी धर्ममयकी दृष्टि है, स्वभावकी दृष्टि है ? जैसे गाय बछड़ेका निष्कपट वात्सल्य है इसी प्रकार धर्म धर्मीमें इस प्रकारका वात्सल्य हो ऐसी शिक्षा मिलती है। अपने धर्ममें भी निष्कपट प्रेम होना यह याद दिलाता है, हमारा काम है ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि लेना, ज्ञान ही उपयोगमें लेना और ज्ञानमात्र रह सकें, ऐसा निरन्तर परिणमन होना यही है अपना धर्म और उस धर्मकी जहां निष्कपट भक्ति जगे मैं आत्मा एक शुद्ध ज्ञानानन्दका पुञ्ज हूं। यों अपने आपमें दृष्टि देकर अपने आपके स्वभावका स्मरण करिये ऐसा गौवत्सका दृष्टान्त एक शकुन माना है। सम्यक्त्व ही वास्तवमें एक शकुन चीज है, इसके जगने पर निर्णय हो जाता है कि अब इसका संसार निकट है। अब आगे भटकेगा नहीं। सम्यग्दर्शन हितरूप है, इस कारण सबसे पहिले हमें सम्यक्त्वकी आराधना करनी चाहिए।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि ।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ।।३४।।

सम्यक्त्व और ज्ञानमें कार्यकारणका विधान—यद्यपि दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं फिर भी इसमें कार्य और कारणका भेद है । जैसे दीपक और प्रकाश दोनों एक समयमें होते हैं, जिस कालमें दीपक जलता उसी काल में प्रकाश होता है । यद्यपि दीपक और प्रकाश एक साथ हैं फिर भी दीपक कारण हैं और प्रकाश कार्य है । दीपक न जले तो प्रकाश कहाँसे हो ? एक साथ होने पर भी सम्यक्त्वमें और सम्यग्ज्ञानमें कार्यकारणका विधान है । इसी कारणसे ज्ञानसे पहिले सम्यक्त्वका आदर करना चाहिए । यद्यपि दीपकका जलना और प्रकाशका होना एक साथ होता है तो भी दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है । इसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होते हैं फिरभी सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है । सम्यक्त्वपर सबसे अधिक जोर है इस कारण इसे पहिले बता रहे हैं ।

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपंतद् ।।३५।।

समारोपरहित आत्मस्वरूप—संशय, विपर्यय अनध्यवसायको छोड़कर ऐसा ज्ञान बनाये कि दीनता हटे ऐसी स्थिति रहे कि सामनेकी चीज देखकर उसके यथार्थपनेका बोध रहे । आत्माका स्वरूप है, संशय विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित । आत्माका स्वरूप, ज्ञानमय तो है ही इसलिए ज्ञानकी बात कही कि इसे शुद्ध करो, किन्तु जिन भावोंके कारण ज्ञानमें दृढ़ता नहीं रहती थी वह बात बतायी गई है । अब देखिये ज्ञानके मिथ्या होने में उसके ये तीन प्रकारके दोष बनते हैं—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय । याने चाहे जैसी चीजोंका हम ज्ञान कर रहे हैं वैसा ही दृढ़ निर्णय हो, चाहे वह विपरीत पड़े, जानन होता ही है । जैसे कोई वस्तु देखी, अब उसमें एक ज्ञान हो गया कि यह ऐसा है । जैसे कुछ निरखकर यह संदेह आ जाय कि यह अमुक चीज है या अमुक तो दो के बजाय तीनका भी संदेह हो सकता । जैसे सामने रस्सी पड़ी है तो उसमें यह संदेह हो सकता है कि यह रस्सी है कि सांप है कि रबड़ है, ऐसे अनेक ज्ञान हो सकते हैं । एक तो ज्ञान है संशय को लिए हुए और एक ज्ञान है मिथ्याको लिए हुए । और ज्ञान ऐसे भी होते हैं जहाँ कुछ निश्चय ही नहीं । संशय विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित जो आत्माका स्वरूप है सो ही सम्यग्ज्ञान है । ज्ञान करके ज्ञानका कुछ कार्य नहीं है, न कहीं कोई स्थान देता है । वह तो सब दोषोंसे रहित केवल एक ज्ञान मात्र है । अध्यवसायमें दो शब्द हैं, अधि और अवसाय । अधि उपसर्ग है और अवसाय मायने हैं निश्चय करनेका । अधिक जानना सो अध्यवसाय है । जो वस्तु का स्वरूप नहीं है उससे अधिक जानना, जैसा सर्वज्ञदेव जानते हैं उससे अधिक विरुद्ध जानना इसका नाम अध्यवसाय है । अब देखिये संसारके प्राणी, यहाँके लोग सर्वज्ञदेवसे भी अधिक निर्णय रख रहे हैं । अधिक निर्णय रखनेका नाम अध्यवसाय है । सर्वज्ञदेव के ज्ञानमें अनेक वस्तु हैं, अनेक गुण हैं, अनेक स्थान हैं । इसी प्रकार प्रयोजनभूत आत्मतत्त्वमें न संशय रहा, न विपर्यय रहा, न अनध्यवसाय रहा । तब क्या बनाया ? सो कहते हैं कि एक विविक्त आत्मस्वरूप । जैसे इतनी हिम्मत हो कि सब छूटना तो है ही, एक सच्चा ज्ञान करले, उसीने ही एक आत्माका स्वरूप जाना और इन दोषोंसे रहित विशुद्ध आत्माका स्वरूप सम्यग्दर्शन है और उपाय इनना ही है कि थोड़ा बहुत तो ज्ञान था ही और परद्रव्योंसे उपेक्षा करके मात्र अपने आपमें रहे तो वह है आत्मा का सही स्वरूप और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका वर्णन करनेमें यह एक भूमिका दी है— संशय, विपर्यय, अनध्यवसायसे रहित जो आत्माका स्वरूप है वह मोक्षमार्ग है ।

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेय सोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ।।३६।।

शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि नामक सम्यग्ज्ञानके अङ्ग—सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके ८ अंग हैं—प्रथम अंगका नाम है शब्दाचार, दूसरेका अर्थाचार, तीसरेका नाम उभयाचार, चौथेका नाम कालाचार, ५ वें का विनयाचार, छटवें का उपधानाचार, ७ वें का बहुमानाचार और ८ वें का अनिह्नवाचार। सही सही अक्षरोंका पठनपाठन करना शब्दाचार है। जिस सूत्रको पढ़ने बैठे वह सूत्र शुद्ध शुद्ध पढ़ना चाहिए। कोई अर्थ भी न जानता हो तो भी शब्द शुद्ध पढ़ना चाहिए, क्योंकि यह एक अंग है। जो शुद्ध पढ़ने वाले हैं उसको अशुद्ध पढ़ने वालोंके अशुद्ध शब्द सुनकर एक ठेस सी पहुंचती है। कुछ दिलमें अटपटा सा लगता है। तो शब्दोंका सही पठन पाठन होना चाहिए। दूसरा अङ्ग है अर्थाचार। अर्थका अवधारण करना। कोई शब्दोंका अर्थ ही न समझें तो वह भावोंसे भीग नहीं सकता है। कोई साधारण छंद हो, पूजा हो, आगमका प्रकरण हो तो उसका अर्थ मालूम होना चाहिए ताकि भावोंसे भीग सके। कोई पूजा तो पढ़ता है और उसका अर्थ मालूम नहीं तो उसमें क्या पूजा करने का भाव जम सकता है? जैन धर्मके मामूली पाठसे लेकर ऊंची से ऊंची चर्चा तक जितने शब्द हैं सबमें मर्म भरा हुआ है। यथार्थ शुद्ध अर्थ अपने मनमें धारण करना इसे शुद्ध अर्थाचार कहते हैं। तीसरा है उभयाचार। उभयाचारमें शब्दशुद्धि भी है और अर्थशुद्धि भी है। तो कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो केवल पाठ करके अपने ज्ञानकी अराधना करते हैं। शब्द तो शुद्ध पढ़ते और अर्थ नहीं मालूम, लेकिन, कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उसका भाव तो है चित्तमें, शब्दशुद्धि पूरी नहीं। कोई पुरुष ऐसे भी होते कि जिनके शब्द भी शुद्ध हैं और अर्थ भी शुद्ध है तो जिनके दोनों शुद्ध हैं वे हैं उभयाचारके पालक।

कालाचार नामक सम्यग्ज्ञानका अङ्ग—चौथा है कालाचार। समयपर बैठकर स्वाध्याय करने का नाम है कालाचार। स्वाध्यायके समय चार होते हैं—पहिला गोसर्गकाल, सूर्योदयके ४८ मिनट बाद और मध्याह्नके ४८ मिनट पहिले के बीचका जो काल है उस कालको गोसर्गकाल कहते हैं। यह गोसर्गकाल सामायिक करनेके योग्य है। दूसरा काल है मध्याह्नकाल, याने मध्यान्हकी दो घड़ीसे संध्याके दो घड़ी पहिले तक। तीसरा है प्रदोषकाल याने रात्रिके दो घड़ी बाद और मध्यरात्रिसे दो घड़ी पहिले। चौथा है विरात्रिकाल, मध्यरात्रिसे दो घड़ी बाद और सूर्योदयसे दो घड़ी पहिले। इन समयोंमें स्वाध्याय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कभी कोई उत्पात हो रहे हों तब स्वाध्यायन करना चाहिए। जैसे कहीं आग लगी हो तो वह समय स्वाध्यायके योग्य नहीं है। क्योंकि वह क्षोभका काल है। जिस समय बिजली गिरती है उस समय भी स्वाध्याय न करना चाहिए। जब इन्द्रधनुष बादलोंमें होता है तो वह समय भी सामायिक करने योग्य नहीं है। सूर्यग्रहणके समय भी स्वाध्याय न करना चाहिए। जिस समय भूकम्प आ रहा हो, ऐसे उत्पादके समय भी सिद्धान्तग्रन्थ न पढ़ना चाहिए। धर्मकथाके ग्रन्थ उस समय पढ़ सकता है, पर जहां तात्विक चर्चा है उसे ऐसे समयमें न पढ़ना चाहिए, क्योंकि उसके लायक उस समय दिलकी सावधानी नहीं बनती।

विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार व अनिह्नवाचार नामक सम्यग्ज्ञानके अङ्ग—५ वें अङ्गका नाम है विनयाचार, विनयपूर्वक शास्त्रोंका अध्ययन करना, हाथ पैर धोकर शुद्ध स्थानपर विनयभाव रखकर नमस्कारपूर्वक शास्त्रका अध्ययन करना सो विनयाचार है। छटवेंका नाम है उपधानाचार। कोई उपधान लेकर आराधना करना इसका नाम है उपधानाचार। उपधानका अर्थ है ऐसा नियम कि जब तक इस ग्रन्थका स्वाध्याय न करले तब तक इस चीजका त्याग है। इस प्रकारका नियम लेना सो उपधानाचार है। ७ वां है बहुमानाचार। बहुत मान करते हुए शास्त्रका अध्ययन करना सो बहुमानाचार है। विनयाचार और बहुमानाचारमें अन्तर यह है कि विनयका सम्बन्ध तो एक अपने आपके मनसे है, बहुमान का सम्बन्ध है बाह्य, गुरुजनों से, जिन ज्ञानी संत-जनों ने उन शास्त्रोंका प्रतिपादन किया है। तो उन संतजनों का मान करते हुए स्वाध्याय करना सो बहुमानाचार है। ८ वें का नाम है अनिह्नवाचार। जिस गुरुसे या जिस शास्त्रसे ज्ञान प्राप्त किया है उसे न छिपाना सो